लेख-सूची

विद्यालयों में बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाए जाते हैं। बाबू साहब की भाषा पुष्ट, ओजस्विनी, और ललित होती है तथा उसमें तत्सम शब्दों की अधिकता होती है।

हीरालाल

अभिन्न प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण क
ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः
तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयं
और सुंदरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी ह
योगिता और सुंदरता पाते हैं। एक झोपड़ी को ली
वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा
है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोप
बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक
दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोपड़ी सुंदरता ध
भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ
उसमें सुंदरता भी आ जाती है।

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उप
और सुंदरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। कल

कला और उसके विभाग

प्रकार हैं—एक उपयोगी कला
ललित कला। उपयोगी कला
सुतार, सुनार, कुम्हार, राज,
आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला क
वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और
कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात्
कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति
दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके

आनंद की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का संबंध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उनके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो, परंतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुंदर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुंदर होने में संदेह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिये सुंदरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी

अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आद
स्थिर करते हैं, क्योंकि सबका मन एकसा संस्कृत नहीं होता

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सक
हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृ
प्रदान करती हैं, और दूसरी वे
श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति
साधन बनती हैं। इस विचार से वा

ललित कलाओं का आधार

(मंदिर-निर्माण), मूर्त्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चि
कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं औ
संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा*। पहली कला
किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी
उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त्त आधार
मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम
मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त्त आधार जित
ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी
इसी मात के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थ
देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार का एक प्रकार से

* काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपक(अभिनय) दृ
श्रव्य काव्य कानों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से दृ
कार्य होते अवश्य हैं, पर इसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला
सम्मत रूप और उसके मुख से उसका अनन्य गुण, दोनों के
दृश्य में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में
हुआ उसका आनंद अनुभव नहीं होता।

अभाव रहता है और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है; परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह इस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही की होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद-परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह व अवरोह (उतार चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। इस मूर्त आधार के सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का अनुभव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। काव्य का आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। इसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है, पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता [illegible] है मुख्य है और नाद [illegible]यता उसका गौण [illegible]

ऊपर [illegible] गया है, उसमें

(२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और कर्णेंद्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के माध्यम का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उन तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस विषय को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार; (२) वह साधन जिनके द्वारा वह आधार गोचर होता है; और (३) मानसिक दृष्टि में निज पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तुकला

वास्तुकला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं। ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश,

छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिछाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मकबरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिंदू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबज, मिहरावें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ा है। वह अपने ब्रश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति मे मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने मे चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आंखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपना ब्रश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अ

अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनंत समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह

संगीत-कला

बढ़ाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है।
परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही
संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों व
दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को करा
जा सकता है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की
खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचा
जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रबल
वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की
लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचा
लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। संगीत का उद्दे
हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कल
इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर औ
कोई कला नहीं हो पाई। संगीत हमारे मन को अपने इच्छ
नुसार चंचल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों क
उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्
मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ पै
जान लेना अत्यंत आवश्यक है। वह यह कि संगीत-क
और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उन
अन्योन्याश्रय-भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहु
कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला
है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। य

शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेंद्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव ये भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री हैं, जिनके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

काव्य-कला

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं— एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने मकान के बरामदे में बैठा हूँ। उन

ललित कलाओं का ज्ञान

बढ़ाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है; परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों व दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रबल वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यंत आवश्यक है। वह यह कि संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह

शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती हैं मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेंद्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव ये भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिनके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

काव्य-कला

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस

ललित पदार्थों का ज्ञान

सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित होकर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनकी लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजयकामना से कैसी रणनीति का अवलंबन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ, और अंत में उस युद्ध ने लड़नेवाले दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परंतु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी त

है पूरा पूरा प्रभावित करता है तब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल गया कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। चित्रकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो धिक लगाना पड़ा, परंतु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति से उसे अपने अंतःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की पेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण ही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और वह बाह्य ज्ञान र अवलंबित है परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अंतर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि "मैंने लड़ाई देखी," पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि "मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।"

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महात्माओं की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भंडार कह सकते हैं, जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आता है, इन सब का बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव जीवन के लिये यह भंडार कितना रक्षणीय है।

२

(२) कविता की कसौटी

काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती हैं जो विष
उसके प्रतिपादन की रीति के कारण मानव-हृदय को
करनेवाली हों और जिनमें आ

कविता और पद्य

का मूल तत्त्व तथा उसके द्वारा आ
उद्रेक करने की शक्ति विशेष रूप से वर्तमान हो। इस
का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि काव्य में दो
मुख्य हैं—एक तो विषय और उसके प्रतिपादन की रीति
मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली होना, और दूसरे आ
और उसके द्वारा आनंद का उद्रेक होना। ये दोनों गुण
और पद्य दोनों में हो सकते हैं। हमारे भारतीय शास्त्र
मुख्यतया पद्य में ही इन गुणों का होना माना है साधा
काव्य शब्द से पद्य ही का बोध होता है। जहाँ उन्हें ग
निर्देश करना आवश्यक हुआ है, वहाँ उन्होंने "गद्य-काव्य"
का प्रयोग किया है इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि पद्य
की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, तथापि वे यह अ
मानते थे कि गद्य में भी काव्य के लक्षण आ सकते हैं
युग गद्य का है अतएव काव्य के अंतर्गत हमें पद्य-काव्य
गद्य-काव्य दोनों मानने चाहिए पद्य का दूसरा नाम
है जिसमें मनोविकारों पर प्रभाव डालनेवाला तथा

य-स्पर्शी पद्यमय वर्णन होता है। विना काव्य का भी
। होता है पर वह केवल पिंगल के नियमानुसार नियमित
त्राओं वा वर्णों का वाक्य-विन्यास होता है अतएव
विता और पद्य में यह भेद है कि पहले में काव्य के लक्षणों
हित दूसरा वर्तमान रहता है और दूसरे में पहले का रहना
ावश्यक नहीं है, अर्थात् कविता पद्यमय अवश्य होगी, पर
द्य के लिये काव्यमय होना आवश्यक नहीं है। जितने पद्य
थे जाते हैं, सब कविता कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।
जनमें काव्य के गुण होंगे, वे ही कविता कहला सकेंगे, शेष
ो "पद्य" में ही परिगणित होने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने कविता का लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार
। किया है। जानसन का मत है कि "कविता पद्यमय निबंध
है" मिल्टन के अनुसार "कविता वह
कला है जिसमें कल्पना-शक्ति विवेक की

कविता के लक्षण

सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर संमिश्रण करती
है" कारलाइल के अनुसार "कविता संगीतमय विचार है।"
शेली का कहना है कि "कविता कल्पना-शक्ति द्वारा उदात्त
मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आनंदों की व्यंजना है" कारथार्प कहता
है कि "कविता वह कला है जो संगीतमय भाषा में काल्पनिक
विचारों और भावों की यथार्थ व्यंजना से आनंद का उद्रेक
करती है" वाट्स डंटन का कहना है कि "कविता मनोवेगमय
और संगीतमय भाषा में मानव अन्तःकरण की मूर्त और कला-

त्मक व्यंजना है।" संस्कृत साहित्यकारों ने कविता (काव्य)
को "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक" अथवा "रसात्मक वाक्य"
कहा है। पर इन सब लक्षणों से हमारा संतोष नहीं होता।
हमारी समझ में "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष
सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका
निर्वाह होता है। राग से हमारा अभिप्राय प्रवृत्ति और
निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरण-वृत्ति से है। जिस
प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी
प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का बाह्य
मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। ये ही हमारे रागों या मनो-
वेगों के, जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं, विषय हैं। कवि
उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सर्ग
सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा
अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुईं और मनुष्य जाति आदि काल
से जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती
चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार,
पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश,
नक्षत्र आदि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही, पर खेत,
पगडंडी, हल, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं
हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण
दीर्घ परंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं। अतएव इनके
द्वारा भी सच्चा रसपरिपाक पूर्णतया संभव है।

क्रोध, करुणा, घृणा, आदि मनोवेगों या भावों पर सान
कर उन्हें तीक्ष्ण करती है, उसी प्रकार जगत् के नाना
और व्यापारों के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने
भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने
सब मतभेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों
विशेषतः रस आदि के भेद-प्रतिबंधों के कारण चल पड़े
ध्वनि-संप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना या आलंकारिकों
का रस-प्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत
लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसा
काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ी
वह नौ भेदों के कारण ही हुई। रस के नौ भेदों की
के अंदर शृंगार के उद्दीपन विभाव के संबंध में सृष्टि के
थोड़े से अंश के वर्णन के लिये, उन्हें जगह दिखाई
हमारे पिछले रंवे के हिंदी कवियों ने तो उतने ही पर
किया। रीति के अनुसार "षट् ऋतु" के अंतर्गत कुछ
गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पु
करके और कभी विरह से व्याकुल करके वे चलते हुए

कविता के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के
यह आवश्यक है कि हम उसके तत्त्वों को जानने और म
का उद्योग करें। बिना ऐसा किए उसका सम्यक्
होना कठिन है। हम पहले कह चुके हैं कि काव्य जीव
एक प्रकार की व्याख्या है जो व्याख्याता के मन में

रूप धारण करती है; अर्थात् व्याख्याता जीवन के संबंध में अपने जैसे विचार स्थिर करता है, उन्हीं का स्पष्टीकरण काव्य है।

कविता का स्वरूप

अब प्रश्न यह होता है कि जीवन की व्याख्या में वह कौन सा तत्त्व है जो उसे कवितामय बनाता है। 'कवितामय' शब्द से हमारा तात्पर्य 'रागात्मक और कल्पनात्मक' है; अर्थात् जिन वाक्य में कल्पना और मनोवेगों का बाहुल्य हो, वह कविता कहलावेगा इस विचार से यदि किसी व्यक्ति, पुस्तक, चित्र या विचार में हम इन दोनों तत्त्वों को स्पष्ट देखें, तो उसे हम कवितामय कह उठेंगे। अतएव जीवन की कवितामय व्याख्या से हमारा तात्पर्य जीवन की उन घटनाओं, अनुभवों या समस्याओं से होता है जिनमें रागात्मक या कल्पनात्मक तत्त्वों का बाहुल्य हो। कविता की यह विशेषता है कि जीवन से संबंध रखनेवाली जिस किसी बात से उसका संसर्ग होगा, उनमें मनोवेग अवश्य वर्तमान होंगे; तथा कल्पना शक्ति से वह प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप दे देगी। इसका तात्पर्य यह है कि एक तो कविता में मनोवेगों (भावों) और रागों की प्रचुरता होगी और दूसरे कल्पना का प्राबल्य इतना अधिक होगा कि वास्तविक वस्तुएँ कल्पनामय बन जावेंगी; और जो कल्पना है, अर्थात् जिनकी उत्पत्ति कवि के अंतःकरण में हुई है, वे वास्तविक जान पड़ने लगेंगी।

परंतु केवल इन्हीं दोनों गुणों के कारण कविता का स्वरू
र नहीं होगा। हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ मन
ा और कल्पना की प्रचुरता हुई, वहाँ कविता का प्रादुर्भा
हुआ। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि
दोनों तत्त्व आवश्यक हैं, और जिस वाक्य में ये न हों,
ह कविता न कहला सकेगा। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ
र भी हैं। गद्य में भी ये रागात्मक और कल्पनात्मक गुण
मान हो सकते हैं, पर ऐसा गद्य कवितामय कहलावेगा,
विता नहीं। गद्य और कविता में कुछ भेद है। प्राय
ना जाता है कि गद्य भी कवितामय हो सकता है और कवि
ी गद्यमय हो सकती है। अब यह जानना आवश्यक है
क दोनों में भेद क्या है। वह गुण जो कविता में ऊपर के
ए दो तत्त्वों के अतिरिक्त आवश्यक है, वही है जो गद्य और
द्य का भेद निर्धारित करता है। गद्य और पद्य में मुख्य भे
त्मक रूप का, उनकी वाक्यरचना के ढंग का, उनकी भाषा
निर्देश का है। सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं
द्य में [illegible] भाषा या [illegible] की भी आवश्यकता है
[illegible] का [illegible] है। [illegible]
[illegible] है। इस [illegible] हम कविता और पद्य के [illegible]
[illegible] भेद के [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible] और कल्पना का [illegible]

होगा, वह पद्य के नाम से ही पुकारा जा सकेगा; कविता के महत्त्वपूर्ण नाम का वह अधिकारी न होगा। अतएव जहाँ केवल कल्पना और मनोवेग ही हों, वहाँ समझना चाहिए कि कविता की अंतरात्मा अपने बाह्य रूप के बिना ही वर्तमान है; और जहाँ केवल छन्द हो, वहाँ समझना चाहिए कि उसका बाह्य रूप, अन्तरात्मा के बिना, खड़ा किया गया है। सारांश यह कि कविता में, वास्तविक कविता में, बाह्य रूप और अंतरात्मा दोनों का पूर्ण संयोग आवश्यक और अनिवार्य है।

कविता और छन्द

कुछ लोगों का कहना है कि कविता के लिये छन्द की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि छन्द एक प्रकार का परिधान है; वह कविता का भूषण है, उसका मूल तत्त्व नहीं है; उसके बिना भी कविता हो सकती है और हुई है। यह सच है कि गद्य में भी कविता के समस्त उपकरण रह सकते हैं; पर वह कविता नहीं है वह गद्य है। यह और बात है कि हम उसमें उन गुणों की विशेषता देखकर उसे "कवितामय गद्य" की उपाधि दे दें [illegible]। किन्तु गद्य में कविता न आज तक कहीं सुनी गई है और न सुनी जाती है। फिर यह बात भी विचारणीय है कि मानव जीवन में संगीत का भी एक विशेष स्थान है। प्रकृति ही संगीतमय है। मंद मंद वायु के संचार, झरनों की कलकल ध्वनि, पक्षियों की मधुर नाद, नदियों के प्रवाह, पत्तियों के मर्मर, यहाँ तक कि मनुष्य-जीवन

में भी संगीत है जिससे मनुष्य की आत्मा को आनंद और संतोप प्राप्त होता है। इसे कविता से अलग करना मानों उसके रूप, उसके महत्त्व और उसके प्रभाव को बहुत कुछ कम कर देना है। कुछ लोग वृत्त को एक प्रकार का बंधन मानते हैं और कहते हैं कि इसकी यह बेड़ी काट दो, इसे मुक्त कर दो, यह स्वतंत्र होकर अपना कार्य करे। परन्तु जो लोग कविता के प्रेमी हैं, जिन्होंने उसके अमृत-रस का आस्वादन किया है, जो उसकी मिठास का अनुभव कर चुके हैं, वे मुक्त कंठ से कहते हैं कि उसकी संगीतमय भाषा का गंभीर और आह्लादकारी प्रभाव उसके महत्त्व को बढ़ाता, उसे मधुर और मनोहारी बनाता तथा मानव हृदय में अलौकिक आनंद का उद्रेक करता है। अतएव कविता का संगीतमय बाह्य रूप नष्ट करना मानों कविता की शक्ति को नष्ट करना है।

केवल इतना ही नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से सभी गंभीर और मर्मव्यापी भावों को मनुष्य ने संगीतमय भाषा में व्यंजित किया है। यह गंभीरता और मर्मस्पर्शिता जितनी अधिक होगी, संगीत उतना ही उन्नत और मधुर होगा। अतः कविता और वृत्त या संगीत का संबंध बहुत पुराना और स्वाभाविक है। इस संबंध के कारण हम कभी कभी इस संसार को भूल कर एक दूसरे ही अलौकिक आनंद लोक में जा विराजते हैं, हमारे मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना

बुद्धि-संगत और सहेतुक व्याख्या करता है जिसके अंतर्गत उनका गुण, उद्भव और इतिहास सम्मिलित रहता है, और जो कार्य-कारण-संबंध तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई संबंध है और न प्रयोजन

परंतु यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक व्याख्या के अनंतर जो कुछ बच रहता है, उससे हमारा बड़ा घनिष्ठ संबंध है। हम संसार के नित्य-व्यवहार में देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओं के वास्तविक रूप से हम आकर्षित नहीं होते, वरन् उनका बाह्य रूप और हमारे मनोवेगों पर उनका प्रभाव ही विशेष आकर्षित करता है। जब हम विज्ञान के अध्ययन में लगे रहते हैं, तब हम समस्त सृष्टि को प्राकृतिक घटनाओं की एक समष्टि समझते हैं, जिनकी जाँच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ निकालना हमारा कर्तव्य होता है। परंतु हम अपने नित्य-व्यवहार में इन घटनाओं को इस दृष्टि से नहीं देखते। विज्ञान के उन घटनाओं का पूरा पूरा समाधान करनेवाला कारण बता देने पर भी हम उनकी अद्भुतता और सुंदरता से ही प्रभावित होते हैं, कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यों न हो, वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर सकती, उलटे वह उसके बढ़ने ही का कारण होती है। इसी साधारण बात से हम कविता के मूल और उसकी शक्ति का पता लगाते हैं। साहि-

लिये हमें कवि का आश्रय लेना पड़ेगा। वही हमारे लिये यह काम कर सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है कि "कविता की महती शक्ति इसी में है कि वह वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार करती है कि हममें उनके विषय में एक अद्भुत, पूर्ण, नवीन और गहरी भावना उत्तेजित हो जाती है। इस प्रकार वह उनसे हमारा संबंध स्थापित करती है। हमें इस बात का पता नहीं लगता कि वह भावना भ्रमात्मक है अथवा वास्तविक है, अथवा वह हमें वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति या गुणों का ज्ञान कराती है या नहीं। हमें तो इस बात से काम है कि कविता हममें इस भावना को उत्तेजित करती है और इसी में उसकी महत्ता है। विज्ञान पदार्थों की इस भावना को वैसा उत्तेजित नहीं करता, जैसा कि कविता करती है।" देखिए, इन्हीं फूलों में से किसी किसी फूल को चुनकर कवि क्या कहते हैं—

"खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर बेलें हँसती मन में॥
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगंधि फैलाई।
सबके हृदय-देश में अपनी प्रभुता ध्वजा उड़ाई॥"
"अहो कुसुम कमनीय कहो क्यों फूले नहीं समाते हो।
कुछ विचित्र ही रंग दिखाते मंद मंद मुसकाते हो॥
हम भी तो कुछ सुनें, किस लिये इतना है उल्लास तुम्हें।
बात बात में खिल खिलकर तुम किसकी हँसी उड़ाते हो॥

> "जीवन को त्राम कर ज्वाला को प्रकास कर
> भोर ही तें भामकर आसमान छायो है।
> धमक धमक धूप सूखत तलाब कूप
> पौन कौन जौन भौन आगि मे तचायो है॥
> तकि थकि रहे जकि सकल विहाल हाल
> ग्रीसम अचर चर सचर मतायो है।
> मेरे जान काहू वृषभान जगमोचन को
> तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है॥"

वर्षा के संबंध में वैज्ञानिक विद्वान् यह कहेगा कि मौसिमि हवा इतने वेग से चली आ रही है; वह इस दिशा को जा रही है और उसके कारण अमुक अमुक प्रांतों में वर्षा है की संभावना है, अथवा इन इन स्थानों में इतने इंच पा बरसा। पर कवि कहेगा—

> "सुखद सीतल सुचि सुगंधित पवन लागी बहन।
> सलिल बरसन लगी, वसुधा लगी सुखमा लहन॥
> लहलही लहरान लागी सुमन बेली मृदुल।
> हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मंजुल विपुल।
> हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
> लसति इंद्रवधून अवली छटा मानिक बरन।
> विमल बगुलन पाँति मनहुँ विसाल मुक्तावली।
> चंद्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली।

नील नीरद सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम।
लसत मनु वनमाल धारे ललित श्री घनश्याम॥
कूप कुंड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे, लगे झरना झरन॥
रटत दादुर विविध लागे रुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदिन कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सबल।
विजय दुंदुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल।"

इससे प्रकट है कि कवि की कल्पना हमारे सुख दुःख
दि की भावनाओं का जितना सुंदर और प्रभावोत्पादक
ा सच्चा चित्र खींच सकेगी, उतना वैज्ञानिक की कार्य-
मा के बाहर है।

यह कहना कि कवि की कल्पना में सत्यता का अभाव
ता है, सर्वथा अनुचित है। सत्यता का जो अर्थ साधा-
रणत: किया जाता है उसे कविता में ढूँढ़ना ठीक न होगा। वह तो केवल

वि-कल्पना में सत्यता

ज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय
न निष्कपटता से है, जो हम अपने भावों या मनोवेगों का
यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे
त्यक्त करने तथा उनके कारण हममें जो सुख-दुःख, आशा-
निराशा, भय-आशंका, आश्चर्य-चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के
ाव उत्पन्न होते हैं, उनको अभिव्यक्त करने में प्रदर्शित करते

है। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह न
सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप जानकर
किंतु इस बात में होती है कि उन वस्तुओं की सुंदरता, उन
रहस्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्र
पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिख
यही कविता द्वारा—जीवन की, मानव जीवन और प्रा
जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में, व्याख्या है।
परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध व
की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्ध
से है; इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतं
उसके लिये प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वा
स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है
कवि हम वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय हमारे और उ
परस्पर संबंध की कल्पना और मनोवेगों से रंजित क
कराता है, परंतु हम इस बात को नहीं सह सकते कि
हम अँधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से
परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृ
अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए और जि
घटनाओं या बातों को वह उपस्थित करे, उनके संबं
उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थि
हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की मा
बहुत कुछ कम हो गई।

श्रीपति कवि लिखते हैं—"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई ने चपला-निकाई अति लागत लहत लो।" चपला की चमक प्रसिद्ध है। उस चमक या द्युति से गात की कांति की उपमा देकर "गात की गुराई" की उपमा देना अनुचित है।

भिखारीदासजी कहते हैं—"कंज सकोच गड़े रहे कीच में मीनन बोरि दियो दह नीरन।" कमल के फूल और पत्ते सदा पानी के ऊपर रहते हैं, उनकी नाल अवश्य पानी के नीचे जमीन में गड़ी रहती है। आँखों की उपमा कमल के फूल या उसकी पँखुरियों से दी जाती है, कमल के समूचे पौधे से नहीं। संकोच के मारे कमल को अपना वह अंग छिपाना था जो आँख की टक्कर का नहीं था; पर उसे तो वह ऊपर ही रखता है। अतएव ऐसी उक्ति प्रकृति-निरीक्षण के प्रतिकूल होने से ग्राह्य न होनी चाहिए।

गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा है—

"फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं बिरंचि सम।"

पहले तो बेंत फलता और फूलता है; फिर सुधा का गुण जीवन-दान देना या अमर करना माना जाता है। उसके बरसने से कोई पौधा यदि सूखा हुआ हो, तो हरा-भरा हो सकता है, या सदा जीवित रह सकता है, पर अपनी जाति या अपना गुण नहीं बदल सकता। गोस्वामीजी ने कवि-पद्धति के अनुसार बेंत का न फूलना-फलना लिखा है, पर यह

बात प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार चकोर का
खाना, चंद्रकांत मणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित
हैं जिनका व्यवहार कविजन केवल अंधपरंपरा के कारण
आते हैं। हमारी समझ में अब इस परंपरा को छो
प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और संगत है
प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि कवि-पद्धति के अनुसार हों, वे
कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं; पर जहाँ कवि-प्रथा
अनुसरण भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की स्वतं
उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती
जैसे विहारी-सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

"सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि
हरी हरी अरहर अजौं, धर धरहर हिय नारि"

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में
कौन धान्य उत्पन्न होते हैं वा पकते हैं, वे कहेंगे कि कपा
पहले होती है और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर विह
लालजी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है
संबंध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने
दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्र
के साथ अन्याय कर डाला। शृंगार-सतसई के कर्ता ने
भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

"छिन छिन गोरी जो भयो, ऊख रहरि के नाम।
अजहूँ अरी हरी हरी, जहँ तहँ खरी कपास।

और बवंडर के फट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ तहाँ हरा रहना वर्णन किया है जो ठीक ही है।

कवि देवजी ने रसविलास में "कश्मीर की किसोरी" का वर्णन करते हुए लिखा है—"जोबन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै एड़िन लौं आंगी छाजै छबिन की भीर की।" ऐसा जान पड़ता है कि कविजी ने किसी से सुन लिया होगा कि कश्मीर की युवतियों का रंग खूब लाल होता है। ईंगुर से अच्छा लाल रंग कविजी के ध्यान में न आया होगा। इसलिये उन्होंने उनके अंगों की उपमा ईंगुर से दे दी। यदि अमेरिका के रेड इंडियन की उपमा ईंगुर से दी जाती तो उपयुक्त हो सकता था। पर "कश्मीर की किसोरी" के अंग की उपमा ईंगुर से देना सर्वथा अनुचित और अनुपयुक्त है। हां, यदि उनके कोमल कपोलों की उपमा किसी अच्छे गहरे लाल रंग से देते तो हो सकता था; पर वह भी सर्वथा ठीक न होता। उनकी उपमा गहरे गुलाबी रंग या सेब की ललाई से देना उपयुक्त और स्वाभाविक होता।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कवि को अपनी कविता के आगे प्रकृति का ध्यान छोड़ने या उस से बल उसके सर्वथा प्रतिकूल बातें कहने का अधिकार नहीं है।

आगे हम कुछ कवियों के प्रकृति के निरीक्षण के दो एक अच्छे उदाहरण देकर यह दिखलाना चाहते हैं कि उन्होंने

प्रकृति के अनुभव और निरीक्षण के साथ अपनी कल्पना
भी कैसे सुचारु रूप से सज्जित किया है।

शरद ऋतु का वर्णन करते हुए सेनापति कहते हैं—

"कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चंद चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध अरध गगन है
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीरसागर मगन है"

देखिए, पंडित रामचंद्र शुक्ल ने बुद्धचरित्र में बसंत
कैसा सुंदर वर्णन किया है—

"............. . . . .बन बाग तड़ाग लसैं चहुँ ओर
लसै नवपल्लव सों लहरैं लहकैं तरु मंद समीर झकोर
कहुँ नव किंशुक-जाल सों लाल लसात घने बनखंड के ओर
परै जहँ रंग सुनात तहाँ अमरान किसानन को कल गा
लिए खरिहानन में सुघर पयपार पयार के ढेर लगा
मढ़े मरमंजुल सौरभ सों सहकार न अगन माहिं समा
भरी छवि सों छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बा
धरै बहु ठौर कछारन में जहँ गायन ग्वाल नचावत गा

लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहुँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरा रस भींजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कलगान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कढ़े लघु जंतु अनेक, भगें पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागन चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाप घनी चित चाह चढ़ाय।
कूक उठै कबहूँ कल कंठ सों कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँड़राय।
स्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि के जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।
वस्तुन सों सब शांति समृद्धि रही बहु रूपन में दरसाय।
देखि इतो सुख-साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरखाय।"

वर्षा में नदियों के चढ़ने का कैसा सुंदर वर्णन पंडित श्रीधर पाठक करते हैं—

"बहु वेग चढ़े नद लैं जल सों तट-रूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कुलाहल व्याकुल ह्वै घन-घोर-करारन ढावती हैं।
मरजादहि छाँड़ि चली कुलटा सम विभ्रम-भौंर दिखावती हैं।
इतराति उतावरी बावरी सी सरिता चढ़ि सिंधु को धावती हैं।"

वे ही कवि "काश्मीर सुखमा" में प्रकृति का वर्णन कै सुंदर शब्दों में करते हैं—

"प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारै
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारै
विमल-अंबु-सर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारै
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारै
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारै
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चितर सा
बिहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद स
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि ठ
मधुर मंजु छविपुंज छटा छिरकति बन-कुं
चितवति, रिझवति, हँसति, डरति, मुसकाति, हरति म

× × × × ×

हिम सैलनि सों घिरयौ अद्रिमंडल यह रूरौ।
सोहत अंडाकार सृष्टि-सुखमा सुख पूरौ।
बहु विधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सों छायौ।
रचन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ।"

कविवर बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' मरघट का वीभत्स पूर्ण वर्णन कैसा अच्छा करते हैं—

"कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई।

बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जग फैलो।
है हरि को मन मही कहँ नर पामर मैलो॥"
"पूरे जदपि पियूष तें हर-सेखर-आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग बंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत॥
बरनै दीनदयाल चंद हौ हीन अधूरे
जौं लगि नहिं स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे॥"

इन उदाहरणों से यह प्रकट है कि कवि ने अपने आत्मानुभव से काम लिया है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को अपनी कल्पना, संवेदना और बुद्धि से रंजित करके एक ऐसा चित्र उपस्थित किया है जो मन पर अपना प्रभाव डालकर भिन्न भिन्न रंगों का संचार करता हुआ कविता के रूप को प्रत्यक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार के ज्ञान और इसे निष्कपटतापूर्वक प्रकट करने की पटुता को 'कवि-कल्पना में सत्यता' का नाम दिया जाता है परंतु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि केवल उन्हीं बातों को नहीं कहता, जिनका प्रत्यक्षकारक उसकी इंद्रियाँ को होना है अथवा जो उसके मनोवेगों को उत्तेजित करती हैं। वह इसके आगे बढ़ जाता है और अपनी कल्पना से काम लेकर प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है जो यद्यपि विज्ञान के प्रतिकूल नहीं होता, पर पग पग पर उसका अनुसरण भी न करके उसे अपनी विशेष छाप से, अपने विशेष

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने चित्रकूट में पय-स्विनी नदी का वर्णन किया है—

> "रघुबर कहेउ लखन भल घाटू।
> करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥
> लखन दीख पय उतर करारा।
> चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
> नदी पनच सर सम दम दाना।
> सकल कलुष कलिसाउज नाना।
> चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
> चुकइ न घात मार मुठभेरी॥
> अस कहि लखन ठाँव दिखरावा।
> थल बिलोकि रघुबर मन भावा॥"

इससे यह प्रकट होता है कि नाले का धनुषाकार रूप देखकर कवि अपने विचारों को रोक न सका और वह नदी का वर्णन भूलकर अपने भाव के दिखाने में, अपने विचारों के प्रकट करने में लग गया। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिये चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है; और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं, तथापि वे वहीं जायँगी, जहाँ अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना का सफल करने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धां

सफलता है कि कवि जितना बड़ा होगा, वह उतना ही गंभीर विचार करनेवाला, तत्त्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव जितने नए विचार संसार में उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होंगी, सब उसके लिये आवश्यक और मनोनुधकारी होंगी। सबका प्रभाव उस पर पड़ेगा और सबको वह अपने साँचे में ढालने का उद्योग करेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा; और चाहे वह अपनी कविता में उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगी। अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का संबंध नहीं है, उचित नहीं है। वह उनके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। यदि कवि दार्शनिक विचारों का मनुष्य हुआ, तो वह विज्ञान की बातों का विरोध किए बिना न रह सकेगा। आजकल जब कि नित्य नए आविष्कार और अनुसंधान हो रहे हैं और विचारों का रूपांतर सा हो रहा है, कविता और विज्ञान में यदि कुछ विरोध देख पड़े तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचारों के विकास में कविगण बुद्धि के साथ साथ नहीं चल सकते। वे पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का बहुत पक्षपाती बना रहता है। उसे नए तथा अपरिचित विचारों से एक प्रकार

की घृणा भी हो जाती है ज्ञान या विद्या को मनो
के रूप में परिवर्तित होने में समय की अपेक्षा होती
यह काम सहसा नहीं हो सकता। अतएव किसी प्र
शाली कवि की एक बड़ी पहचान यह है कि वह इस प
का अनुभव करे, उसकी शक्ति का अनुमान करे और वैज्ञा
ज्ञान के आध्यात्मिक अर्थ को समझकर उसे परिवर्त
में सहायक हो

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें यह तात्पर्य नि
है कि वह कवि जो दार्शनिक नहीं है अथवा वह दार्शनि
कवि नहीं है, उन दोनों ही को इस बात का पूरा पूरा
रखना चाहिए कि जो कुछ सिद्धांत वे स्थिर करते हैं,
उस सिद्धांत के लिये जो कारण वे उपस्थित करते हैं वे
ही दृढ़ नींव पर स्थित हों इसमें संदेह नहीं कि कवि
अपनी कल्पना का प्रयोग करने में बहुत कुछ स्वतन्त्र
है। वह उसके द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके हममें
का उद्रेक करना चाहता है। पर ज्योंही वह उपदेश दे
प्रवृत्त होता है, त्योंही हमें इस बात की अपेक्षा होती है
उसके उपदेश केवल भावना को आकर्षित करनेवाले और
को स्पर्श करनेवाले ही न हों, वे बुद्धि को भी संतुष्ट करें

हिंदी काव्य में इस प्रकार की रचना का बाहुल्य
अन्योक्तियों को इसी प्रकार की रचना के अन्तर्गत
चाहिए। उपदेश देने की इस इच्छा से हिंदी

इतना उत्कृष्ट रूप धारण किया है कि कवियों को प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में भी इस प्रवृत्ति ने अपने पद से भ्रष्ट कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासजी में भी यह बात बहुत पाई जाती है। रामचरितमानस के किष्किंधा कांड में वर्षा और शरद् का जो वर्णन किया है, वह इन ऋतुओं का प्राकृतिक वर्णन न होकर उपदेश का भांडार हो गया है। दो ही एक उदाहरण यथेष्ट होंगे। यथा—

"दामिनि दमक रहि न घन माहीं
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।"
"छुद्र नदी भरि चलीं तोराई
जस थोरेहु धन खल बौराई।"
"उदित अगस्त पंथ जल सोषा
जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।"
"बूँद अघात सहैं गिरि कैसे
खल के बचन संत सह जैसे॥"

उपदेश देने और प्रकृति का वर्णन करने में बड़ा अंतर है। उपदेश देना बुरा नहीं, परंतु प्राकृतिक वर्णन में उसी का प्राधान्य होने से उस वर्णन का उद्देश नष्ट हो जाता है। उपदेश देने और कविता में दार्शनिक बातों के लाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ कल्पना मनमाना काम न करने पावे। जो मोटे दार्शनिक सिद्धांत ही हैं, जिनमें मनोविज्ञान आदि शास्त्रों के तत्त्वों का समावेश है, उनको कवि अपनी कल्पना के अनुसार

जैसा चाहे, वैसा रूप नहीं दे सकता। इन सिद्धांतों को मन में रखकर उनके अनुकूल कल्पना को अपना कर्त्तव्य पालन करने में स्वतंत्रता देना सर्वथा उपयुक्त होगा। अतएव यह बात सिद्ध हुई कि कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान सहायक का है, विरोधी या शत्रु का नहीं। कवि प्रत्येक प्रकार की सत्य का उपयोग कर सकता है, यदि वह उसे सुंदरता का रूप देकर कविता के गुणों से विभूषित कर सके। एक विद्वान का कथन है कि संसार में कोई ऐसा सत्य नहीं है जिसे मनुष्य जान सकता हो, पर जो कविता के रूप में उपस्थित न किया जा सकता हो, चाहे वह प्रकृति के व्यापार का कोई चित्र हो, या बुद्धि की कोई विभावना हो, या मानव जीवन से संबंध रखनेवाली कोई घटना हो, या मनोविकारों का कोई तथ्य हो, या कोई नैतिक भावना हो या आध्यात्मिक जगत् की झलक हो। इनमें से कोई भी विषय कविता के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि वह केवल ऐंद्रिय ज्ञान का विषय न हो, या बुद्धि का एक प्रत्यय मात्र न हो जिसका मन में किसी प्रकार ग्रहण हो जाय, किंतु उसे उन स्थितियों से निकलकर कल्पना के सजीव मूर्तिमान रूप में प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस प्रकार सजीव होकर वह मनुष्य के रागों, भावों और मनोवेगों को ही उत्तेजित नहीं करता; किंतु मनुष्य के सब भावों, इंद्रियों और अवयवों में एक अद्भुत प्रोत्साहन का संचार करता है। कवि-कल्पना

में यही बात सत्यता कहलाती है जिसकी समता वैज्ञानिक सत्यता नहीं कर सकती।

हम लिख चुके हैं कि कवि को किस प्रकार प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए और अपने भावों को प्रकट करने में कैसे उसके प्रतिकूल न जाकर उसे अपना सहायक बनाना चाहिए। अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि कवि के मनोवेगों के साथ प्रकृति का संबंध किस प्रकार का होता है और उसे किस प्रकार प्रकृति को अपने काम में लाना चाहिए। भिन्न भिन्न कवियों में प्रकृति-दर्शन से उत्पन्न भाव भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ कवियों को प्रकृति वह निर्मल, सहज और स्वच्छ आनंद देनेवाली होती है जो सभी साधारण मनुष्य उसके दर्शन और संसर्ग मात्र से उठाते हैं, जैसा कि पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने "प्रियप्रवास" के आरंभ में वर्णन किया है—

कविता और प्रकृति

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम-वृंद का
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली
उड़ रही नभमंडल मध्य थी॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा
दश दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज-हरीतिमा
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई॥
झलकने पुलिनों पर भी लगी
गगन के तल की वह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी
अरुणता अति ही रमणीय थी"

इस प्रकार के वर्णन में ध्यान देने की बात इतनी ही कि कवि को प्रकृति का जैसा रूप दिखाई दे रहा हो, उसे वैसा ही अपनी भाषा मे चित्रित करे; उसे अपने भावों विचारों से रंजित करने का ध्यान न रहे और न वह उ किसी प्रकार के सिद्धांत या उपदेश निकालने का उद्योग क ऐसे वर्णन बहुत कम देखने मे आते हैं। इनसे आनंद उद्रेक प्रतिबिंबित होकर नहीं उत्पन्न होता, किंतु वह सी बिना किसी आधार या आश्रय के उत्पन्न होता है।

दूसरे प्रकार के कवि प्रकृति से वह आनंद पाने के इच्छ होते हैं जो उन्हें इंद्रियों द्वारा प्राप्त हो सकता है कवियों को प्रकृति की ओर आध्यात्मिक या गूढ भावन से देखने की आवश्यकता नहीं होती उन्हे उन से कोई प्रयोजन नहीं होता जो किसी चिंतनशील वस्तुओं का बाह्य रूप देखकर उनमे अतर्हित भावों के

से उत्पन्न होती है। उन्हें तो प्राकृतिक सुंदरता का अनुभव करने भर से ही आनंद मिलता है और उसे प्रदर्शित करने में ही वे अपना कर्त्तव्यपालन समझते हैं। 'प्रियप्रवास' में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ऐसा वर्णन दिया है—

"लोनी लोनी नवल लतिका वायु में मंद डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलों कुंजों कुसुमित वनों क्यारियों ज्योति फैली।"

उत्तररामचरित में लव का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

"किंचित कोप के कारन सों
जिह आनन ओप अनूपम सोहै।
गुंजनि मिंजनि को धनु लै
छुग छोरनि मंजु टकोरत जो है॥
चंचल पंच सिखानि किये
बरसावत सैन पै बान विमोहै
चूइ रह्यो रन रंग महा
यह बालक वीर बतावहु को है।"

तीसरे प्रकार के कवि वे हैं जो कविता में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के रूप में करते हैं। उनकी उपमाएँ प्रायः प्रकृति ही से ली जाती हैं, जैसे पद्माकर का कहना—"विज्जु छटा सी अटा पै चढ़ी मुकताहलि धारि छटा करती है।" इस प्रकार की कविता बहुत मिलती है।

पद पद पर इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। इस संबं
विचारने की बात केवल इतनी ही है कि कवि ने ऐसे प्रा
उदाहरणों का अनुचित उपयोग तो नहीं किया है।

कविता में प्रकृति के प्रयोग का चौथा प्रकार उसे म
के मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली की भाँति काम में
है। जिस प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना या चित्र को ग्र
करने में चित्रकार पहले घटनास्थल का एक स्थूल चित्र ब
करके तब उसमें मुख्य घटना को चित्रित करता है, उसी
कवि मनुष्य के क्रिया-कलापों का वर्णन करने के पूर्व
क्रियाक्षेत्र के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करता है। इसके
कभी कवि किसी स्थान का और कभी किसी समय का
करता है; और इसके अनंतर वह अपने मुख्य विषय पर
अपनी कविता के उद्देश की ओर अग्रसर होता है कथान
लिखने में इस प्रकार प्रकृति का प्रयोग विशेषत किया
है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात यही है कि प्रा
दृश्य के वर्णन में मग्न होकर कवि कहीं अपने मुख्य विष
न भूल जाय और उस दृश्य के वर्णन को आवश्यकत
अधिक विस्तृत न कर दे या उसे कोई तुच्छ स्थान न दे दे

प्रकृति के प्रयोग का पाँचवाँ प्रकार वह है जिसमें
प्राकृतिक दृश्य का वर्णन ही मुख्य विषय होता है।
वह सहायक या साधक का स्थान न ग्रहण करके स्वयं
या प्रधान स्थान ग्रहण करता है और उसमें मनुष्य आदि

न केवल प्रकृति के चित्र को पूर्ण करने के लिये दिया जाता। ऐसे प्राकृतिक वर्णनों में ऋतुओं का वर्णन या किन्हीं स्थलों आदि का वर्णन गिनाया जा सकता है। हिंदी में ऋतुओं के वर्णन बहुत अधिक हैं; परंतु उनमें ऋतुओं का वर्णन करने की अपेक्षा नायक या नायिका के भावों को प्रदर्शित करने का ही विशेष उद्योग किया गया है, प्रकृति की छटा प्रदर्शित करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति का वर्णन कवि की मनोवृत्तियों, भावनाओं या विचारों पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। कहीं तो वह उसमें ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव करता है, कहीं वह उसमें क्रूरता, असहिष्णुता, कठोरता आदि का प्रत्यक्ष दर्शन करता है और कहीं उसमें सहानुभूति, सहकारिता और [illegible] के हृदयों का साक्षात् रूप देखता है। प्रकृति में ये भिन्न भिन्न भावनाएँ और रूप कवि के स्वभाव के कारण रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वह प्रकृति में अपने स्वभाव का प्रतिबिंब देखता है और उसे उसी रूप में देखकर अपने अनुकूल उसका वर्णन करता है।

कविता की व्यंजक-शक्ति

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कविता में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह शिव-सुंदर सौंदर्य, मानवी जगत् के अनुभव तथा प्रकृति के सच्चे रूपों के आध्यात्मिक भाव को हमारे सामने प्रदर्शित करती है। कविता के प्रभाव से हम कुछ अनुभूत

से वंचित रह जाते हैं। इस सांसारिक व्यापारों में ऐ
व्यग्र रहते हैं कि कविता को इस शक्ति के संपादन में
होते हैं। सच्चा कवि वही है जिसमें वस्तुओं के
गोचर सौंदर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने
अनुभव करने की पूर्ण शक्ति हो; और जो कुछ वह देखता
अनुभव करता हो, उसे इस प्रकार से व्यक्त करे जिससे
कल्पनाएँ और भावनाएँ भी उत्तेजित होकर हमें
भाँति देखने, समझने और अनुभव करने में समर्थ करें।
अतएव कवि हमें कुछ काल के लिये सांसारिक व्यापार
व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान जगत् की सुंदरता
मनोहरता की ओर आकर्षित करता है और हमारे
एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्य प्रति की
तथा सांसारिक स्वार्थसाधन के व्यवसायों में मग्न रहने
कारण आँखों के रहते भी देखने में, कानों के रहते भी
में और हृदय के रहते भी अनुभव करने में असमर्थ होते
कवि ईश्वरीय सृष्टि का रहस्य समझने में समर्थ होता है
किसी सुंदर और रमणीय स्थल को हम देखते हैं और
रह जाते हैं। एक बार नहीं अनेक बार ऐसा होता है।
चित्रकार की आँख उसकी सुंदरता को चट ताड़ लेती
और वह उसे चित्रित कर देता है। उस चित्र को देख
हमारा ध्यान भी उस दृश्य की ओर आकर्षित होता है
हम उसकी सुंदरता का अनुभव करने में समर्थ होते हैं

ी प्रकार कवि भी संसार की वस्तुओं की मनोहरता और
दरता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उनका आध्या-
त्मिक भाव समझकर हमें उनका ज्ञान अपनी मनोहारिणी और
लित भाषा में कराता है। तब हम भी उनकी सुंदरता और
नोहरता समझने लगते हैं और उनके आध्यात्मिक भाव की
ओर आकर्षित होते हैं। इस प्रकार कवि हमें केवल वस्तुओं
की सुंदरता का ही भाव प्रदान नहीं करता, बल्कि हमें इस
योग्य भी बना देता है कि हम कवि की दिव्यदृष्टि की सहायता
से जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को देख और समझ सकें
तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वयं अनुभव कर सकें।

इस प्रकार कविता हमारे जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं
से संबंध स्थापित करती है और अपनी क्रीड़ा के लिये ऐसे विषयों को चुन लेती है जो सुगमता से हमें अपना कर्तव्य पालन करने में सहायता देते हैं। इस विचार से

कवियों के कर्तव्य का आदर्श

अनेक प्रकार की कविता, यहाँ तक कि तुच्छ से तुच्छ विषयों
पर की गई कविता, जिसे कवि अपनी शक्ति से मनोहारिणी
बना देता है, हमारे भाव को परिष्कृत करती और अपना महत्त्व
प्रदर्शित करती है। परंतु यदि कविता कल्पनाओं और संवे-
दनों के रूप में जीवन की व्याख्या है, तो उसके वास्तविक
महत्त्व की कसौटी उस शक्ति का प्रभाव है जो वह जीवन के
महत्त्वपूर्ण और स्थायी विषयों के संबंध में—जैसे मनुष्य के

दर्शन में जिनका संबंध हमारे विशेष अनुभवों और
विराग से होता है—प्रदर्शित करती है। कविता
कला है; अतएव उसकी परीक्षा भी उस कला के नैपुण्य
उपकार से ही होनी चाहिए साथ ही यह बात
में रखनी चाहिए कि काव्य-कला आत्मा की बाह्य मूर्ति
वह विचारों और भावों की वाहक है; और जितना
आत्मा के विचारों और भावों को प्रकट करती है,
उसका महत्त्व बढ़ता है। इसका यह आशय नहीं कि
का उद्देश केवल आनंद का उद्रेक करना है। यह तो
कलाओं का उद्देश है, और कविता इसका अपवाद नहीं।
कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उस आनंद की मात्रा
की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन की रीति पर आश्रित
है। कुछ लोग कह बैठते हैं कि किसी कला का आदर
लिये होना चाहिए कि वह एक कला है, इसलिये नहीं कि
आनंद का उद्रेक करने में समर्थ होती है इसे सिद्ध
प्रतिपादन तो वे ही लोग करते हैं जिनमें कला-कौशल
नैपुण्य नाममात्र को ही होता है, या होता ही नहीं।
बड़े कवियों ने इस सिद्धांत की उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा
उन लोगों का तो यही कहना है कि कविता जीवन से
की ओर जीवन के लिये है। इसी भाव को लेकर
कविता की है। जीवन का भाव समझने और उसको
करने में जिस शक्ति का परिचय वे दे सके हैं, उसी के

र उनका महत्त्व स्थापित हुआ है। आर्नल्ड का कहना है कविता सचमुच जीवन की आलोचना है; और कवि का त्त्व इसी में है कि वह अपने उच्च विचारों का प्रयोग जीवन-व्यवहार में इस प्रकार करे कि वह सौंदर्य का अनुभव कराके व उत्पन्न करने में समर्थ हो। सदाचार और नीति की तें धर्म-संप्रदायों, मत-मतांतरों तथा भिन्न भिन्न पंथों आदि हाथ में पड़ जाने से प्रायः संकुचित और नीरस हो ती हैं। कभी कभी उनका विरोध करने या उनकी उपेक्षा ने में भी कविता दरिद्र होती है कविता द्वारा शित होने पर उन बातों के प्रतिपादित विषय का ध्यान करके उनके रूप-सौष्ठव और उनकी मनोहारिता ही हम मुग्ध हो जाते हैं। सदाचार और नीति के रोध, तथा उनकी उपेक्षा या उनके अभाव से कविता की पुष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि सदाचार और नीति की तें जीवन से भिन्न नहीं हो सकतीं उनका विरोध करना वन का विरोध करना है, उनकी उपेक्षा करना जीवन की क्षा करना है और उनके अभाव से संतुष्ट होना जीवन को रस बना देना है। अतएव हमें यह मानने में संकोच न रना चाहिए कि कवि का महत्त्व उसके प्रतिपाद्य विषय, उसके चार, उसके धर्मभाव और उसके प्रभाव पर अवलंबित रहता । कोई मनुष्य तब तक श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता, जब क वह अच्छा तत्त्वदर्शी भी न हो : पर इसका तात्पर्य यह

। महज, सुचारु और मनोमुग्धकारी रूप को धारण नहीं सकता, चाहे उसमें वाहरी सज-धज या वनावट-सजावट नी ही अधिक और कितनी ही अच्छी क्यों न हो। तीनों तत्त्वों का परस्पर बड़ा घनिष्ट संबंध है और काव्य नका ऐसा संमिश्रण हो जाता है कि इनका विश्लेषण के इन्हें अलग अलग करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार असंभव भी है। प्राय: देखने में आता है कि एक ही पदार्थ देखने पर मन में विचार, कल्पना तथा मनोवेगों की एक । उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये तीनों बातें भिन्न भिन्न मान- क क्रियाओं के व्यापारों के भिन्न भिन्न रूप हैं पर कहाँ की समाप्ति होकर दूसरे का आरंभ होता है अथवा उनकी त्ति का क्रम किस प्रकार है, इनका निर्णय करना और विभाजक रेखा खींचकर उनकी सीमाएँ निर्धारित ना असंभव है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त चौथा तत्त्व मानना भी आवश्यक है। उनका कहना है कवि या लेखक की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो र उसके भाव, विचार और कल्पना चाहे कितनी ही परि- ; और अद्भुत क्यों न हों, जब तक उसकी कृति में रूप- र्य नहीं आयेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा । न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता के द्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला

सकेंगी। अतएव चौथा तत्त्व अर्थात् रचना-चमत्कार नितान्त आवश्यक है

शैली का रूप

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। किसी किसी के मत में शैली विचारों का परिधान है पर यह ठीक नहीं क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान कहकर उसका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत संगत होगा, अथवा उस भाषा का व्याख्यान प्रयोग भी ठीक होगा।

कविता की अन्तरात्मा का हम विशद रूप से विवेचन कर चुके हैं अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जाय, तो समाज को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अंग है, उसी में उसके जीवन और कर्तव्य का साफल्य है

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्रायः दूसरों को समझाना, किसी कार्य में प्रवृत्त कराना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों काम मनुष्य की भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से संबंध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है, प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परंतु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम संकल्प-शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं; और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। इसलिये शैली की विवेचना के ध्यान में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए तीनों कार्यों को पूरा करने के लिये हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं।

शब्दों का महत्त्व

अतः भाषा का मूल आधार शब्द है जिन्हें उपयुक्त ढंग

प्राय स्वाभाविकता की कमी हो जाती है और शब्दों को इ
में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पड़ती। एक ही बात कई
प्रकार के शब्दों और वाक्यों में घुमा-फिराकर कहनी पड़ती है
पर प्रौढ़ावस्था में ये सब बातें नहीं रह जातीं। वहाँ दो ए
शब्द के भी घटाने बढ़ाने की जगह नहीं रहती। जो लेख
या कवि विशाव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को
करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस ओर प्रवृत्ति न
होती, उनमें यह दोष अंत तक वर्तमान रहता है और उन
कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिये लेखकों या कवि
को शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उप
शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है, और इस गुण
प्रतिपादित करने में उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिए इस
में स्मरण-शक्ति बहुत सहायता देती है शब्दों के आधार
ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इस नींव पर यह सु
प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक
नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भं
बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण
कि मेरे भांडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिसमें प्र
जन पड़ते ही वह उन रत्नों को निकाल सके। ऐसा न हो
उनको ढूँढ़ने में ही उसे बहुत सा समय नष्ट करना
और अंत में झूठे या कांतिहीन रत्नों को इधर उधर से बँ
समेटकर अपना काम चलाना पड़े।

कवि या लेखक के लिये शब्द-भांडार का महत्त्व कितना धिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि यूरोप में हित्यालोचकों ने बड़े बड़े कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त ब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके पांडित्य ा थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं या है। परंतु जब तक ऐसा न हो, तब तक उनकी भावों ा व्यंजन करने की शक्ति और उसके ढंग के आधार पर ही में उनके विषय मे अपने सिद्धांत स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि या लेखक के ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और इस कार्य में वह कहाँ तक दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम यह भी सहज ही में जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिये सबके पास यथेष्ट शब्द-सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। सब मनुष्यों का स्वभाव एक सा नहीं होता और न उनकी रुचि ही एक सी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना कि सबमें सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एक सी शक्ति होगी, जान बूझकर अपने को भ्रम मे डालना होगा। संसार में हमको रुचि-वैचित्र्य का निरंतर साक्षात्कार होता रहता है; और इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण लोगों के विचार

और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसको जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सूक्ष्मता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से संबंध रखनेवाला उसका शब्द-भांडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों के प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती। यदि हम कई भिन्न भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ, दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के संबंध में अपने अपने भावों तथा ... को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि ... समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग ... यदि एक में विचारों की गंभीरता, भावों की ... भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की ... भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; ... में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा ... की ही विशेषता है। इसलिये केवल प्रयुक्त शब्दों से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का

और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसको जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से संबंध रखनेवाला उसका शब्द-भांडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों के प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती यदि हम कई भिन्न भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ, दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के संबंध में अपने अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री की समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग निराला है। यदि एक में विचारों की गंभीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है। इसलिये केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन

करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्य-रूपी माला में चुनकर गूँथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते, तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है। रचना-शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस संबंध में सबसे पहली बात जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों को

सुंदरता को नष्ट करता और लेखक के शब्द-भांडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। एव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

वाक्यों की विशेषता

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अंत यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सबके अंत में आता है। इस प्रकार

अंश में कर्त्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अंतिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़नेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अंत तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अंतिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा संतोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़नेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है, वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिये अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो इन छोटे छोटे वाक्यांशों की भूलभुलैयाँ में मुख्य भाव

प्रायः लुप्त सा हो जायगा; और यह वाक्य अपनी दुरू
कारण पढ़नेवाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञा
मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सके
अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए।
इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्यांश बहु
तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघ
त्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने
बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लंबाई या वि
की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो ले
के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है।
इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के वि
के आधार पर उस सीमा को निर्धारित करना उचित हो
जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे
वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। सरल
सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी
तो उनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में
प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान बूझकर अपने वाक्यों
विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्
से लाद चलते हैं इसका परिणाम यह होता है कि
वाले ऊब जाते हैं और प्रायः लेखक स्वयं इस बात को
जाता है कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना
आरंभ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होने ही वह

त्ति को भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर नागे दौड़ चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर संबंध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं इसे स्पष्ट करने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो चाहे हम अनेक वर्षों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय, परंतु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे।"

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई जाती है, तब वह हमारी स्मरण-शक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबंध-रचना

अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ, पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशवल, काल-भेद और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल पानी ही लिया जाता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ जीवन का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी सगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

अंग अंग नग जगमगत, दीप-शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या ... मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दिया ... मुहाविरे का अर्थ 'दिया बुझाना' करने से दोहे में ... त्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस ... को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगनित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि, भये प्रफुलित नैन॥

इन दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुलित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणतः वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि रूप का अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है, यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है; अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि, 'तुम्हारे मुँह में शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण रूपी मुँह में प्रतिबिंब देखकर शठता की झलक देख ली; इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वो
वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधि
चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों
व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ
तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का
विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ
की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेष
उत्पन्न करनेवाला माना और फिर अलकारों मे उनकी
करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाले कहा है। हमारे
काव्यों के अनेक गुण भी माने गए हैं और उन्हें "प्रधान
का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म" कहा है। काव्यों में रसों
प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्य
सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रसों का
हो जाता है पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और
द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता
श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं,
मुख्य गुण तीन ही कहे गए हैं; यथा माधुर्य, ओज
प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों
बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते
ये वृत्तियाँ, गुणों के अनुसार ही, मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा
इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की भी

वियाँ—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—मानी गई हैं। इन
वियों के नाम देशभागों के नामों पर हैं। इससे जान पड़ता
कि उन उन देशभागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष
से अनुकरण किया है; अतएव उन्हीं के आधार पर ये
म भी रख दिए गए हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति
र वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुषा वृत्ति और गौड़ी
ति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति
त्पादक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग
कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों
न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है,
नका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं दोनों बातों का
विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचना-शैली में
या गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि
मारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक
ल ही समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के
चार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना
ई विशेष ढंग न होने कारण और अँगरेजी का पठन-
ठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य-
ली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार
अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने पहले अँगरेजी
सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार
किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया

है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर
आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शा
ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार करुण और
रस को, ओज गुण वीर बीभत्स और रौद्र रस को,
प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करत
पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ
वर्तन भी हो जाता है; जैसे शृंगार रस का पोषक
गुण माना गया है, पर यदि नायक धीरोदात्त या नि
हो, अथवा अवस्था-विशेष में युद्ध या उत्तेजित हो गया
तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक
आनंददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसे
परिपुष्टि के लिये गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कह
है; पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से
में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस
समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत
अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही
एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर
सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष नहीं माना
बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षण
ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख
अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्य

अलंकारों का स्थान

परंतु जिस प्रकार शब्दों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि काव्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है; दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उनकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं और संसार में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा स्थापित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते और न उनके आधिपत्य का तिरस्कार करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। इन भावों, विच
कल्पनाओं को काव्य-शास्त्र के अधिकारी कह स

अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ... अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और ... ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का ... समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए, दूसरों के विशेष महत्त्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उन्हें उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं, अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने मरोड़ने की

आवश्यकता पड़ती है; अतएव इनमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक के बहुत भेद हैं। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बार प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बार साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बार साम्य होता है। पद के अन्त में आनेवाले सुन्दर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अन्तर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा लिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सबके बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं, पर इनका तत्त्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्त्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी मानसिक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से। जब समान पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे

मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या वैषम्य हमारे मन पर जम जाता है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं या दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर एक स्थान में अवस्थित हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उनका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आप से आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया। इससे बिना आधार के चलन के कारण उनकी संख्या में दिनों दिन वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिलाना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की प्रणाली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषय के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों

ग्रंथ वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इनमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद भी मिलते हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तदन्यता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और इनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है।

पद-विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उनके मुख्य मुख्य विभाग कर लिये जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे का अतिक्रमण करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगमता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें

पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले हों कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्य की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए इस संबंध में दो बातें विशेष ध्यान देने की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा सक्रमण और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और सक्रमण में उच्छृंखलता बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिए संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से वाक्य या पदों में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके शैली के गुणों या विशेषताओं के संबंध में कुछ विचार क

जाहते हैं। हम वाक्यों के संबंध में विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके हैं; तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के संबंध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं।

शैली के गुण

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक बुद्धयात्मक और दूसरा रागात्मक। बुद्धयात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, नमस्ता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इन विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बहुत ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं; अतएव यहाँ उनके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के संबंध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। गद्य और पद्य में मुख्य भेद यह है कि पद्य में वृत्त का होना आवश्यक है, गद्य में उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। काव्य-कला और संगीत-कला का पारस्परिक संबंध बड़ा घनिष्ठ है। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य तथा संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। कविता सदा इस सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, अतएव इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी कर देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत-कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मिलान का संबंध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा गु-

वृत्त

ङ्कारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों
नों भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्ष-साधक हैं
पिङ्गल-शास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया
। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा
नका पारस्परिक संयोग, अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि
े हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रामूलक
और दूसरे वर्णमूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु का विचार
र मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना
से सुगम करने तथा मात्राओं के तारतम्य को व्यवस्थित करने के
लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण
में वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में
जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या
अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है,
उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है।
ऐसे स्थानों को यति, विराम या विश्राम कहते हैं। यहाँ इस
संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह
कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे
यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेष
[illegible]
कर इसी विषय पर विचार किया जाता
है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम
अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक

प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे बड़ी
की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, त
उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता
है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सह
सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों तक का दूसरी जाति पर प्र
पड़ता है। लाख उद्योग करने पर भी वे इन बातों से
नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में
सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तो
पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है।
संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की
है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ वि
शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें
विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर
व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके
उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आ
प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न
और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़
रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें
शब्दकुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना
हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम
अपने रंग में रँगकर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशी
की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये कोई नया

साँस, जो अब नाद हो गया, अभी तक स्पष्ट व्यक्त नहीं हु
जब यह साँस मुँह में से होकर आगे बढ़ता है, तब इ
मार्ग में जिह्वा अनेक स्थानों पर रुकावटें उपस्थित करती है
पहले मुख के अंतिम भाग या मुलायम तालु पर, फि
तालु पर, और अंत में ऊपरी दाँतों के मसूड़ों पर।
की जड़ तथा उसका मध्य और अग्र भाग भी ऐसी ही रु
उत्पन्न करता है। जब हम क, च, त आदि अक्षरों
धीरे धीरे उच्चारण करते हैं, तब जिह्वा द्वारा उपस्थित की
रुकावटों का अनुभव कर सकते हैं। जब साँस इन रु
को पार करके बाहर निकल पड़ता है, तब हम व्यंजन
का उच्चारण करते हैं। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा रु
नहीं उपस्थित करती, वह केवल वायु के निकलने के मार्ग
संकुचित या प्रसारित करती है जिसके कारण भिन्न भिन्न
का उच्चारण होता है। स्वर और व्यंजन दोनों मिलकर
की नाद-सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भिन्न भिन्न स्वर
व्यंजन मिलकर शब्द बनाते हैं और शब्दों से वाक्य बनते

हम बालकपन में ही बोलना सीखते हैं। यह
क्रमशः प्राप्त होती है, सहसा नहीं आ जाती। जब

भाषात्मक बोध

अपने बड़े भाई, बहिन या माता
को कोई शब्द बार बार कहते
है, तब वह उनका अनुकरण करने की चेष्टा करता
वह उस नाद को बड़े ध्यान से सुनता है और व

ना है कि उस नाद के कानों में उनके सुर की आकृति
ती हो जाती है। तब वह अपनी शक्ति भर उसका अनुकरण
ने का उद्योग करता है। अतएव किसी शब्द का उच्चा-
ण सीखने में दो भिन्न भिन्न क्रियाओं का उपयोग होता है—
क श्रुति-विषयक और दूसरी स्नायु-विषयक। इन दोनों
याओं का उसके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और वे इंद्रिय-
न के रूप में उसके मस्तिष्क पर अपनी छाप डालती हैं।
एव हम यह कह सकते हैं कि हमारा भाषण किसी उच्च-
त शब्द का श्रुति और स्नायु संबंधी वह प्रतिबिंब है जो हमारे
स्तिष्क पर पड़ता है; अथवा यों कह सकते हैं कि भाषण का
न्यात्मक ढंग उच्चरित और श्रुत शब्दों या वाक्यों का वह
तिबिंब है जो हमारी स्मरण-शक्ति पर पड़ता है और जिसे
म उसमें संग्रहित रखते हैं।

जब बालक कोई शब्द सुनता है, जैसे 'रोटी', तब वह
हले पहल उसका उच्चारण करने में असमर्थ होता है और
स शब्द को 'धोती' 'लोटी' 'तोती' आदि कहता है। पर
ष्टा करने से वह यह नहीं समझता कि मैंने उस शब्द का
क ठीक उच्चारण नहीं किया। वह अपने भरसक उसका
क ठीक उच्चारण करने का उद्योग करता है। ज्यों ज्यों वह
ड़ा होता है और उसकी भाषण शक्ति तथा उसके नाद-यंत्रों
विकास होता है, त्यों त्यों वह उस शब्द का ठीक ठीक
चारण करने में समर्थ होता जाता है।

एक बात और ध्यान देने की है। बालक केव
करण ही नहीं करता, वरन् अनुकरण के साथ ही स
नए शब्दों को तथा पुराने शब्दों के नए रूपों को भ
के अनुरूप भी बनाता जाता है जिन्हें वह सुनता है।
देखते हैं कि वह 'खाया' 'पाया' आदि शब्द सुनता है
उन्हीं के अनुरूप 'आया' 'जाया' शब्द बना लेता है,
'जाया' का ठीक रूप 'गया' है। एक और आधे को
कर सूचित करनेवाले संस्कृत के सार्द्ध शब्द से निकल
'साढ़े' शब्द होता है। बालक देखता है कि जहाँ 'आधे'
की आवश्यकता होती है, वहाँ 'साढ़े' शब्द लगा दि
है; जैसे साढ़े तीन, साढ़े चार, साढ़े पाँच आदि। इ
के अनुरूप ही वह 'साढ़े एक' और 'साढ़े दो' शब्द ब
लेता है, यद्यपि व्यावहारिक प्रयोग में इनके लिये 'डे
'ढाई' शब्द आते हैं। इस प्रकार किसी भाषा में दो अ
हैं—एक तो परंपरागत और दूसरा व्यक्तिगत। दोनों
रहते ये दोनों अंग एक दूसरे के विरोध में आते रहते हैं
वास्तव में इनमें से एक के कारण भाषा में परिवर्तन
रहता है और दूसरा भाषा को सीमित रखता है।

भाषा वास्तविक व्यवहार अर्थात् भाव या विच
विनिमय का साधन है। अतएव किसी भाषा के बोल
सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि जहाँ तक बन
भाषा में अनेकता न आने पावे। इसी से स्वयं अपने

भी देखने में आता है, पर वैज्ञानिकों ने बहुत सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करके यह पता लगाया है की च्यूँटियों और मक्खियों तक में यह बात पाई जाती है। मनुष्य इन पशुओं से कई बातों में कहीं श्रेष्ठ है और उसका शारीरिक संघटन भी इनकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण, संकुल और विकसित है। इसी लिये मनुष्य में भाव-प्रकाशन की शक्ति भी बहुत विकसित है। पर उसकी इस शक्ति और साधन को यदि थोड़ी देर के लिये अलग कर दें, तो अनेक बातों में उसका भाव-प्रकाशन पशुओं और विशेषतः मनुष्य से अधिक मिलते जुलते हुए पशुओं के भाव-प्रकाशन से बहुत कुछ समानता रखता है। जब मनुष्य में कोई साधारण तीव्र मनोवेग उठता है, तब उसकी नाड़ी और हृदय-गति भी तीव्र हो जाती है; और यदि वह मनोवेग और अधिक तीव्र हुआ तो उसके हाथ-पैर आदि अंग काँपने लग जाते हैं। यदि तीव्रता की मात्रा और भी अधिक हो जाती है तो अंगों का यह कंपन बंद हो जाता है; सब अंग शिथिल हो जाते हैं, और कभी कभी हृदय की गति अस्थायी अथवा स्थायी रूप से बंद तक हो जाती है। जिस प्रकार मनोवेगों का प्रभाव अंगों पर पड़ता है, उसी प्रकार उसका प्रभाव मुख अथवा आकृति पर भी पड़ता है। मनुष्य जब कोई मीठी, खट्टी या कड़वी चीज खाता है, तब प्रायः उसकी आकृति से ही यह प्रकट हो जाता है कि जो चीज वह खा रहा है, उसका स्वाद कैसा है। इसी प्रकार जब मनुष्य

के मन में आनंद, शोक, क्रोध, दया या विराग आदि का संचार होता है, तब भी उसके मुख पर उसका हार्दिक भाव झलकने लगता है। इस प्रकार अंगों के इंगित और मुख की चेष्टा से हृद्गत भावों का प्रकाशन होता है। तात्पर्य यह कि पहले भावों की उत्पत्ति होती है और तब इंगित या चेष्टा से उनका बाह्य रूप प्रदर्शित होने लगता है। इस इंगित व चेष्टा के साथ ही साथ मुँह से किसी प्रकार का नाद भी निकल पड़ता है। अतएव पहले भाव और तब साथ ही साथ इंगित, चेष्टा तथा नाद का आविर्भाव होता है। कुछ लोगों का मत है कि पहले इंगित या चेष्टा और तब नाद होता है, पर यह विचार भ्रमात्मक है। भाव-प्रकाशन में इंगित या चेष्टा का महत्त्व अवश्य है; पर भाषण का आरंभ नाद से ही होता है, उसमें इंगित या चेष्टा की कोई आवश्यकता नहीं होती। उनमें परस्पर सहचारिता न रहकर सहायकता आ जाती है।

भाषा के विकास में नाद के अनंतर अनुकरण का आरंभ होता है। जब हम यह बात स्वीकृत कर लेते हैं कि भाषण या भाषा का एक मात्र उद्देश परस्पर भावों का विनिमय और एक दूसरे की बातों का समझना या समझाना है, तब हमारे यह मानने में कुछ भी अड़चन नहीं रह जाती कि कोई विचार प्रकट करने का सबसे सुगम उपाय यही है कि उसके अनुकूल नाद किया जाय। हम अनुभव करते हैं कि जब कोई वस्तु ऊपर

अनुकरण

से गिरती है, जैसे पेड़ से फल फूल पत्ते आदि, तब पृथ्वी पर उनके पहुँचते ही 'पट' सा शब्द होता है। अब इस 'पट' शब्द से हमने आरंभ में 'पत्' धातु बना ली जिसका अर्थ 'गिरना' है। हम देखते हैं कि पेड़ों से प्रायः पत्ते गिरा करते हैं; अतएव उसी 'पट' शब्द से 'पत्र' शब्द बना लिया जिसका अर्थ पत्ता हुआ। हम देखते हैं कि एक साधारण पक्षी बहुत अधिक मिलता है। वह 'का' 'का' या 'कां' 'कां' शब्द करता है। हमने उसका बोध करने और कराने के लिये उसके अव्यक्त नाद के आधार पर उसका नाम 'काक' रख दिया। उस 'काक' शब्द 'काओ' होकर 'कौआ' या 'कौवा' शब्द बन गया। अतएव स्पष्ट है कि यदि हम भाव या विचार-विनिमय की प्रकृति को भाषा के विकास का मुख्य आधार और वाणी को उसका मुख्य कर्म या साधन मान लें, तो हमें उसका इतिहास जानने में कोई कठिनता नहीं हो सकती। जिस वस्तु के द्वारा हम अत्यंत सुगमता से अपने विचार दूसरों पर प्रकट कर सकेंगे उसी का हम प्रयोग करेंगे। स्वाभाविक नाद या पुकार के अवलंब से पहले पहल भाषण-शक्ति प्रस्फुटित होती है। उस नाद के साथ ही अनुकरण की क्रिया भी आ उपस्थित होती है। सच बात तो यह है कि नाद या पुकार में भी अनुकरण की ही मात्रा वर्तमान है। जब अनुकरण की प्रकृति ने भावों या विचारों के विनिमय में सहायता देना आरंभ कर दिया और क्रमशः हमारी ज्ञानशक्ति का

भी विकास होने लगा, तब हम इसका अधिकाधिक उपयोग करने
लगे और इस प्रकार क्रमशः भाषा विकसित हो चली। ह
यह जान लेना आवश्यक है कि भावप्रकाशन के जो भिन्न भि
रूप बतलाए गए हैं, उनका किस प्रकार उपयोग होता है
ऊपर हमने कौवे का उदाहरण दिया है। अब यदि ह
इंगित द्वारा उस पक्षी का बोध कराना चाहते हों, तो ह
उसका उड़ना या गर्दन हिलाना या और कोई मुख्य गुण
स्वभाव लेकर उसे संकेत द्वारा प्रकट करेंगे यदि चित्र द्वा
इसी भाव को प्रकट करना हो तो दो तीन लकीरों से उस
चित्र सा बना देंगे; और यदि नाद द्वारा उसे प्रकट क
चाहेंगे तो जो अव्यक्त स्वर वह प्रायः करता है, उसे ले
'का' 'का' जैसे नाद से उसका बोध करावेंगे। इस प्र
भाषण के विकास में नाद के अनंतर अनुकरण आता है।

इस प्रकार भाव-प्रकाशन में इंगित या चेष्टा और भा
में नाद के अनंतर अथवा साथ ही साथ दोनों में अनुक
की अवस्था उत्पन्न होती है. इस भाव-प्रकाशन म
चित्रलिपि के प्रारंभिक रूप का भी आविर्भाव होता
जिसमें क्रमशः विकसित होते होते अक्षरों या लिपियों
सृष्टि होती है, और भाषण से शब्दों का निर्माण प्रारंभ हो
है जिससे क्रमशः भाषा की सृष्टि होती है। भाव-प्रका
और भाषण में पहले भाव का आविर्भाव होता है और उ
अनंतर भाषण की अवस्था आती है। अतएव पहले म

वृद्धि होती गई और साहचर्य तथा सादृश्य की सहाय
वह पूरित होने लगा। जंगली या असभ्य लोगों की आव
कताएँ बहुत ही थोड़ी होती हैं; अतएव उनका शब्द-भं
भी संकुचित होता है। पर ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास
जाता है, त्यों त्यों भाव-विनिमय तथा आवश्यकताओं की
बढ़ती जाती है। उनके साथ ही भाषा का भांडार भी बढ़
जाता है। इस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ ही सा
भाषा का भी विकास होता चलता है

यह एक निश्चित सिद्धांत है कि उन्नति की मात्रा ज्यों ज्यों
बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उसकी गति भी बढ़ती जाती है।
पहले पहल जितनी उन्नति दस हजार वर्षों में होती है, उ
उसके उपरांत एक हजार वर्षों में हो जाती है। फिर ह
वर्षों में जितनी उन्नति होती है, उतनी उसके अनंतर सौ व
में होती है और जितनी उन्नति सौ वर्षों में होती है, उ
दस बीस वर्षों में होने लगती है। अब यह बात निर्वि
सिद्ध है कि मनुष्य को अपने भाषण का आरंभ और वि
करने में हजारों लाखों वर्ष लगे होंगे। पर ज्यों ज्यों
उन्नति करता गया, त्यों त्यों उसकी गति बढ़ती गई
अंत में उसने वर्त्तमान रूप धारण किया।

(५) हिंदी भाषा का विकास

यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि प्राचीन भारतीय आर्य यूरोप और एशिया की आधुनिक सीमा के आस-पास के मैदानों में रहते थे। वहाँ से वे हिंदूकुश और अफ़गानिस्तान के मार्ग से भारत में आए और पंजाब में बस गए। वे एकदम बढ़ते हुए नहीं चले आए थे। वे कई टोलियों में आए थे और मार्ग में ही उन्हें कई पीढ़ियाँ, वरन् कई शताब्दियाँ लग गई थीं। इन आर्यों की प्राचीनतम भाषा, जिसका अब तक पता चला है, ऋग्वेद की ऋचाओं में रक्षित है। क्रमशः इस भाषा ने विकसित होकर वैदिक संस्कृत और तब साहित्यिक संस्कृत का रूप धारण किया। पहले बोलचाल की भाषा प्राचीन प्राकृत थी जिससे पाली का आविर्भाव हुआ। पाली के साहित्यिक आसन पर विराजने के अनंतर मध्य काल की प्राकृत का विकास हुआ और उसके भी उस आसन की अधिकारिणी होने के अनंतर बोलचाल की भाषा अपभ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुई। अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक भाषाओं का उद्भव हुआ। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से भारत-

पुरानी कथा

वर्ष में एक ओर साहित्यिक भाषा की धारा बहती रही
दूसरी ओर बोलचाल की भाषा की। ये दोनों धाराएँ
ही साथ बहती चली आई हैं और दोनों में यथासमय
वर्तन होते रहे हैं। वर्तमान काल में जो भाषाएँ प्रच
उन सबका विकास इस क्रम से हुआ है।

इसी प्रकार हिंदी भाषा का विकास भी क्रमशः
और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। यद्यपि

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

कविता बहुत पीछे की बनी हुई
है, परन्तु हिंदी का विकास
के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगा
इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग माना है।
इस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो
थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसियहु जइ भग्गा घर एंतु॥१॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥२॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं जिनका जन्म संवत् ११
और मृत्यु सं० १२२९ में हुई थी। अतएव यह मान
सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा इससे
पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि-कवि चंद
छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक सम

धना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में ... कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर साथ ही उसमें प्राचीनता ... भी कम नहीं है। उसम समय का पूरा ... जान पड़ता है।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ जो बुंदेलखंड ... प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस ... उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह ... है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "... खंड" की रचना हुई थी। इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति ... तक नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इ... बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। ... प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों ... स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त ... भी मिल गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष में राजनीतिक ... फेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का ... आरंभ हो गया था और इस्लामधर्म के प्रचार तथा ... वर्धन में उत्साही और दृढ़-संकल्प मुसलमानों के ... के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की पड़ी थी। ... अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको ... सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित ... सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों ...

प्रचार बढ़ाने में भी सिद्धहस्त तथा सेना के अग्रभाग में रह-
कर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी
निपुण थे। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे और इन्हीं
से उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर
कोई १०० वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है।
अस्तु हिंदी का आदि-काल संवत् ११०० के लगभग आरंभ
होकर १३०० तक चलता है। इस काल में विशेष कर वीर
काव्य रचे गए थे। इस समय की भाषा का रूप राजपूताने
की भाषा से मिलता जुलता है, जिसमें बीच बीच में एक ओर
पुरानी गुजराती और दूसरी ओर कहीं कहीं पुरानी पंजाबी
का मिश्रण देख पड़ता है। आरंभ काल की हिंदी में एक
विशेषता यह भी थी कि वह प्रायः प्राकृत-प्रधान भाषा थी,
अर्थात् उसमें शब्दों के प्राकृत रूपों का अधिक प्रयोग होता था।
राजपूताने में इस प्राकृत-प्रधान भाषा को "डिंगल" नाम दिया
गया है। चारणों में इस भाषा का बहुत प्रचार था और
अभी तक बहुत कुछ है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य-काल आरंभ
होता है जो ५०० वर्ष तक चलता है। भाषा के विचार से
इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—
एक सं० १३०० से १५०० तक और दूसरा १५०० से १८००
तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदलकर
क्रमशः ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती .

हैं और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा ... अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है। इस... के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी; ... क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँच... पुनः डाँवाँडोल हो गई।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी ... का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८... के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने ग्र... प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्र... हुआ। लल्लूजीलाल के पहले का भी गद्य मिलता है; ... कविता में तो खड़ी बोली तेरहवीं शताब्दी के ... तक में मिलती है। कविता में खड़ी बोली का ... मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया ... यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के ... पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राज... का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों ... हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें ... विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ ... उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। ... अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए ... भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्हीं ने इसे समस्त ... वर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और ...

ठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसल-
नों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी
षा मानी जाने लगी और हिंदू कवियों ने अपनी कविता में
सलमानों की बातचीत प्रायः इसी भाषा में दी है। अतएव
ध्य-काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—व्रजभाषा,
वधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ-काल की भाषा प्राकृत-
धान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा
स्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की
ोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग
ोता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा
ससे यह तात्पर्य नहीं कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव
ो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर
युक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह,
ोयन आदि।

उत्तर या वर्तमान काल की साहित्य की भाषा में व्रज-
ाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का
चार बढ़ता गया है। इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब
हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य
ी रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका विशेष संबंध साहित्य
की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, व्रजभाषा
और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ

प्रचलित है; पर इस समय साधारण बोलचाल की भी बोली है। इस खड़ी बोली का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक है।

यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, इसका बहुत कम प्रचार था। जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया तब उन्हें इस बात की चिंता हुई कि यहाँवालों से किस भाषा में बातचीत करें। दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण उन्होंने मेरठ की भाषा खड़ी बोली को ग्रहण किया। अतएव मुसलमानों के उर्दू (= फौजी बाजार) में इसका व्यवहार होने लगा, और जहाँ जहाँ मुसलमान गए, इस भाषा को अपने साथ लेते गए। क्रमशः इसमें अरबी और फारसी के शब्द घुसने लगे। पर आरंभ में उनको सुगमता से ग्रहण करती और अपना रूप देती गई। पीछे यह प्रवृत्ति बदल गई और मुसलमानों ने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों को ही उनके शुद्ध रूप में ग्रहण करना नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी अपने अरबी व्याकरण का पुट चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी के

के अनुसार रखकर, अँगरेज़ों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदो-
स्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन
रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक
भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। (२) उर्दू—
जिसका प्रचार विशेष कर मुसलमानों में है और जो इनके
साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के
बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदोस्तानी—
जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं
और जिसे सब लोग बोल-चाल में काम में लाते हैं। इसमें
अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है. इस तीसरे रूप के
मूल में राजनैतिक कारण हैं। हम इन तीनों रूपों पर अलग-
अलग विचार करेंगे। पर ऐसा करने के पहले हम यह बात
स्पष्ट किया चाहते हैं कि इसकी उत्पत्ति के विषय में जो
बातें [illegible] में विचार फैल रहे हैं, वे भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों
का यह कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली ब्रज-
भाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें अर-
बी फ़ारसी के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप
धारण किया। इस कथन में सत्य बहुत कम है। खड़ी
बोली का प्रचार तो उसी समय से है, जब से ब्रजभाषा का प्रच-
लन हुआ है। भेद केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा [illegible]
भाषा में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है
और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने

लगी है। पूर्वकाल में खड़ी बोली केवल बोलचाल की भ
थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और फार
उन्हीं ने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी प्र
खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो है जि
जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई
अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नामा में, जिसमें सुल्तान
तान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्रखाँ और देवल देवी
प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा
वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था, पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भ
फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा,
प्रत्येक भाषा की मीर और सबों से मुख्य है, रई (अरब
एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हि
से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भ
को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि वि
मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि
शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर क
सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है
पर प्राण में किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे
दरों के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सब
अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के है
और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिं

षा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार तने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में हायता पहुँचाने के उद्देश से खालिकबारी नाम का एक कोष में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ खवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि-कवि ही हीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी-अरबी में परस्पर दान-प्रदान में भी अपने सरसक सहायता पहुँचाई थी क्रम की १४ वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का मूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन, ना सखि कुत्ता॥
स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥
जो मानुस इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

हिंदू कवियों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का योग किया है। प्रायः मुसलमानों की बातचीत में खड़ी

बोली में लिखते थे। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थलों
में इस भाषा का प्रयोग किया है उनमें से कुछ उदाहरण
नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।

(२) खुदा की कसम खाई है।

(३) अफजलखान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित-किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है।
चाक गरेबाँ करके हम दम आहें भरना आता है।
ललित-किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है।

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार सोलहवीं
शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक
आदर नहीं था। अट्ठारहवीं शताब्दी में हिंदी के गद्य
की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली
ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार
पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं।
पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या
बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य
पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी
अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या
तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है।

सहारा लेकर उठीं, फिर जब दोनों में बल आया, तब न्यारे हो गईं।"

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वास्तव में उन्होंने हिंदी गद्य को आधुनिक रूप नहीं दिया। इससे कुछ पहले का, मुं० सदासुख के लिखे भागवत का हिंदी अनुवाद, "सुखसागर" वर्तमान है। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य का आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिये राजा पृथु को, नारायण के अवतार थे कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाये, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा, वह दुख आपको होय, इससे अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया, फिर ऐसा यश किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर लल्लूजीलाल, सदल मिश्र तथा इंशाअल्लाखाँ का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलायकरि, बुलाकर, बुलाय करिके आदि रूप अधिकता से मिलते हैं।

सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशा उल्लाखाँ की
में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल
सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी
कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का
नमूना मानते हैं। सारांश यह कि यद्यपि फोर्ट विलि
कालेज के अधिकारियों, विशेष कर डाक्टर गिलक्रिस्ट की
में हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग
तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके
नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (
बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार
कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर
के साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल
अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले यह बात कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हि
विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और इसक
पान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्तिमा
गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई
मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूल रूप को
अपने रक्षकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब
क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर
उसका नाम मात्र की थी। उसने हिंदी से जहाँ
हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी। पर

वह अपनी जन्मदात्री को भूलकर तथा अरबी-फारसी के [रं]ग में रंगकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, [जि]स प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति [अप]ने विजेता की नकल करके उनका विकृत रूप धारण करने [में] अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती [है]। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग [कर]ती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता [बढ़] रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता से [प्रयो]ग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं, वरन् [तत्स]म रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत [अध]िकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के [अन]ुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, [कल]म या अमीर का बहुवचन कागजों, कलमों या अमीरों [न हो]कर कागजात, कलमात, उमरा आदि होता है; और ऐसे [बह]ुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध-कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इजा-[फ]त करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे [श]हरेदेहिल, दफ्तरे-फौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार [कर]ण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में ['अ]ज' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे, अज़ खुद, अज़ तरफ़।

२

मंदिर पर तशरीफ़ लाए थे। और उनकी यह मंशा थी कि इस मंदिर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें, और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मालूम हुई। तब बादशाह ने ग़ुस्से में आकर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरू किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाईं, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और कहते ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुदरत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौज बादशाह की भौंरों से परेशान हुई। और यह ख़बर बादशाह को भी मालूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेश्वर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद करने का ऐलान कर दिया।"

हिंदोस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेज़ी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यद्वाणी करना कठिन ही

बल्कि वह जाति सभ्य समझी जाती है, इस अवस्था की प्राप्ति, बिना साहित्य के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और साहित्य की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे रह जाना असम्भव है, दोनों साथ साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

वैज्ञानिकों का सिद्धांत है कि आदि जीवन-तत्त्व या प्रोटप्लाज्म (प्रोटोप्लाज्म) का एक टुकड़ा, जिसे हम आदि-जीव या जीवाणु (प्रोटोज़ोआ) कह सकते हैं, पहले अपने सब अंगों से सब कार्य करता है; वह शरीर के प्रत्येक भाग से देख, सुन, सूँघ और चल सकता है। पर धीरे धीरे वह ज्यों ज्यों विशेष भागों से विशेष कार्य लेने लगता है त्यों त्यों उनके निरन्तर बाह्य पंचभूतों का प्रभाव उन भागों का रूप परिवर्तित करने लगता है। जिस भाग से देखने का कार्य विशेष रूप से लिया जाने लगा उस पर प्रकाश की लहरें निरंतर पड़कर उसे उनकी संवेदना के लिये संचित बनाने लगीं। इस प्रकार धीरे धीरे चक्षुरिंद्रिय का आविर्भाव हुआ। इसी तरह से अन्य इंद्रियों और अवयवों का प्रादुर्भाव हुआ और आदिम अवस्था के अनुकूल मानव शरीर की सृष्टि हुई, जो क्रम क्रम से उन्नति करता हुआ उस अवस्था को प्राप्त हुआ जिसमें आजकल हम उसे पाते हैं। जीव-सृष्टि के आदि में सब

हित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उनकी
ाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किन
'तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के
ान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले
ह अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते
न्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे
 युद्धों के वर्णन अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड
विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी
प में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक
िन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को
न या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार
चारों की एक शृंखला बंध जाती है जिससे साहित्य के
शेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है मस्तिष्क को क्रियमाण
खने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के
लिये साहित्य रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस
प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी।
जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिये अनुकूल आहार की
अपेक्षा होती है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये
साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में
प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-
प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर
परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में

रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपाय सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। और एव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक सुख प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल दशा है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत भूमि प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरी है कि सब खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इसकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में वे सांसारिक बातों से मन हटकर जीव, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँस इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की मानसिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य

...ों को सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया
। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप

साहित्य और समाज

के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने ...मान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क ...कला देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो ...ने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था ...का परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का ...भाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। ...ह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात ...सो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरु-...त्थान का बीज मैजनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी ...हित्य का प्रभाव इनकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा ...हाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने ...गों को अधिक न सताया। उनका विशेष ध्यान धर्म की ...ओर रहा। जब जब इसमें अव्यवस्था और अनीति की ...द्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्धधर्म ...और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के ...रण हुआ। इसलाम और हिंदू धर्म जब परस्पर पड़ोसी ...ए तब दोनों में से कूप-मण्डूकता का भाव निकालने के लिये ...और नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट

हुए, पर उन्होंने जयचंद के घर जाकर दासत्व
स्वीकार नहीं किया। जयचंद ने अपनी कन्या
स्वयंवर भी इसी समय रचा। संयोगिता की
सोमवंशी राजा मुकुंददेव की कन्या थी। पृथ्वीराज में
संयोगिता से बिना एक दूसरे को देखे एक दूसरे का
जानने ही पर आंतरिक प्रेम हो गया था, पर निम
यज्ञ में नहीं गया। जयचंद ने जब यह देखा कि सब
तो आ गए पर पृथ्वीराज नहीं आया, तब उसे बड़ा क्रोध
और उसने पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति बनवाकर
रखवा दी। ऐसा करने से उसका आशय यह प्रकट
था कि यद्यपि पृथ्वीराज नहीं आया, पर उसकी प्रतिमा
है कि वह आकर इस यज्ञ के समय द्वारपाल का काम
निदान जब स्वयंवर का समय आया तब जयचंद
जयमाल लेकर निकली। सब राजाओं को देखते देखते
अंत में आकर पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में माला
और इस प्रकार अपने गाढ़ तथा गूढ़ प्रेम का पूर्ण परिचय
यह बात जयचंद को बहुत बुरी लगी। उसने
का मन फेरने के लिए अनेक उद्योग किए, पर जब
सफलता नहीं हुई तब उसने गंगा के किनारे एक
एकांतवास का दंड दे दिया। इधर पृथ्वीराज
जयचंद का यज्ञ विध्वंस कर दिया।
को सब वृत्तांत विदित हुआ तब उसने छिपकर

तैयारी की। प्रकट रूप में तो चंद बरदाई आया, पर
वास्तव में पृथ्वीराज अपनी सामंत-मंडली सहित पहुँच गया।
निदान किसी प्रकार जयचंद को यह वृत्तांत प्रकट हो गया
और उसने चंद का डेरा घेर लिया। बस, फिर क्या था, युद्ध
छिड़ गया। इधर लड़ाई हो रही थी, उधर पृथ्वीराज
छिपा हुआ कन्नौज की सैर कर रहा था। घूमते घूमते वह
उसी महल के नीचे जा पहुँचा जहाँ संयोगिता कैद थी। दोनों
की आँखें चार होते ही परस्पर मिलने की इच्छा प्रबल हो उठी।
सखियों की सहायता से दोनों का मिलाप हुआ और वहीं
गंधर्व विवाह करके दोनों ने सदा के लिए अपना संबंध
जोड़ लिया। इसके अनंतर पृथ्वीराज अपनी सेना में आ
मिला। सामंतों ने मुख-छवि देखकर मामला समझ लिया
और उसे बहुत कुछ धिक्कारा कि वह अकेला ही क्यों चला
आया और अपनी नव-विवाहिता दुलहिन को क्यों नहीं साथ
लाया। इस पर लज्जित हो पृथ्वीराज पुनः संयोगिता के
पास गया और उसे अपने घोड़े पर चढ़ा अपनी सेना में ले
आया। बस, फिर क्या था, संयोगिता को इस प्रकार हरी
जानकर पंग-सेना चारों ओर से उमड़ आई और बड़े भया-
नक युद्ध का श्रीगणेश हुआ। निदान युद्ध होता जाता था और
पृथ्वीराज धीरे धीरे दिल्ली की ओर बढ़ता जाता था। बहुत
से सामंत मारे गए, सेना की बड़ी हानि हुई, पर अंत में पृथ्वी-
राज अपनी राज्यसीमा में जा पहुँचा और जयचंद ने हार

मानी। इसके अनंतर उसने बहुत कुछ दहेज भेजकर दिल्ली
में ही पृथ्वीराज और संयोगिता का विधिवत् विवाह करा दिया।
अब तो पृथ्वीराज को राज-काज सब भूल गया, केवल
गिता के ही ध्यान और रस-विलास में उसका सारा
बीतने लगा। इस युद्ध में ही बल का ह्रास हो चुका था।
जो कुछ बचा बचाया था उसे इस राग-रंग ने नष्ट कर दिया।
यह अवसर उपयुक्त जान शहाबुद्दीन चढ़ आया। बड़ी गहरी
लड़ाई हुई, पर अंत में पृथ्वीराज हारा और बंदी हो गया।
कुछ काल के पीछे चंद भी पृथ्वीराज के पास गजनी पहुँच
गया और वहाँ दोनों एक दूसरे के हाथ से स्वर्गधाम को
पधारे। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का बैर पुराना था।
इसका प्रारंभ इस प्रकार हुआ था। शहाबुद्दीन एक नव-
यौवना सुंदरी पर आसक्त था जो उसे नहीं चाहती थी।
वह हुसेनशाह पर आसक्त थी। शहाबुद्दीन के उस युवती और
हुसेनशाह को बहुत दिक करने पर वे दोनों भागकर पृथ्वी-
राज की शरण चले आए। उस समय तक हिंदुओं में
इतनी वीरता और इतना आतिथ्य-धर्म वर्तमान था कि वे
शरणागत के साथ विश्वासघात न करके सदा उसकी रक्षा करते
थे। जब शहाबुद्दीन को यह ज्ञात हुआ तब उसने पृथ्वीराज
को कहला भेजा कि तुम उस स्त्री और उसके प्रेमी को अपने
देश से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर भेजा कि शरणागत
की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है; उन्हें निकालना तो दूर रहा,

मैं सदा उनकी रक्षा करूँगा। बस, अब क्या था, महा-र्जन दिल्ली पर चढ़ दौड़ा। फिर युद्ध हुए जिनका वर्णन पढ़कर इस समय भी हिंदू-हृदय रोमांचित और वीररस-पूर्ण हो जाता है।

चंद का रासो

इन्हीं घटनाओं का वर्णन चंद बरदाई ने अपने ग्रंथ में अतीव विस्तारपूर्वक किया है। हिंदी भाषा में यह ग्रंथ अपनी समता नहीं रखता। यह ग्रंथ ६९ अध्यायों में विभक्त है। पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पृथ्वीराजरासो इतिहास नहीं है, वह एक सुंदर काव्यग्रंथ है और उसकी सब बातों में ऐतिहासिक तत्व खोजना असंगत है।

कवि चंद ने अपने रासो के आदि पर्व में अपने पूर्व के कवियों का इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रथमं भुजंगी सुधारी ग्रहनं।
जिनैं नाम एकं अनेकं कहनं॥
दुती लंभयं देवतं जीवतेसं।
जिनैं विश्व राख्यौ बली मंत्र सेसं॥
चवं वेद बंभं हरी कित्ति भाख्यौ।
जिनैं धम्म साधम्म संसार साख्यौ॥
दुती भारती व्यास भारत्थ भाख्यौ।
जिनैं उत्त पारत्थ सारत्थ साख्यौ॥

चवं सुक्खदेवं परीखत्त पायं ।
जिनं उद्दर्यो सब्ब कुरुवंस रायं ॥
नरं रूप पंचम्म श्रीहर्ष सारं ।
नलं राय कंठं दिने पद्ध हारं ॥

छटं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं ।
जिनं बागबानी सुबानी सुबद्धं ॥
कियो कालिका मुक्ख बास सुसुद्धं ।
जिनं सेत बंध्योति भोज-प्रबंधं ॥

सतं डंडमाली उलाली कवित्तं ।
जिनं बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं ॥
जयदेव अट्ठं कवी कब्बिरायं ।
जिनं केवलं कित्ति गोविंद गायं ॥

गुरं सब्ब कब्बी लहू चंद कब्बी ।
जिनं दर्सियं देवि सा अंग हब्बी ॥
कवी कित्ति कित्ति उकत्ती सुदिक्खी ।
तिनें की उचिष्टी कवि चंद भक्खी ॥

इस प्रकार कवि चंद अपनी दीनता दिखाता हुआ कहता है कि मेरे पूर्व जो कवि-गुरु हो गए हैं उन्हीं की उक्ति मैं पुन कहता हूँ। वह पुन कहता है—

कहँ लगि लघुता बरनवों,
कविन-दास कवि चंद ।

उन कहिते जो उव्वरी,
सो वकहों करि छंद ॥

आगे चलकर कवि अपने काव्य के विषय में यह
ता है—

आसा महीव कव्वी ।
नव नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं ॥
सागर सरिस तरंगी ।
वोहथ्थयं उक्तियं चलयं ॥

काव्य समुद्र कवि चंद कृत,
मुगति समप्पन ग्यान ॥
राजनीति वोहिथ सुफल,
पार उतारन यान ॥

छंद प्रबंध कवित्त जति,
साटक गाह दुहथ्थ ॥
लहु गुरु मंडित खंडियहि,
पिंगल अमर भरथ्थ ॥

अति ढंक्यौ न उघार,
सलिल जिमि सिब्बि सिवालह ।
बरन बरन सोभंत,
हार चतुरंग विसालह ॥

विमल अमल बानी बिसाल,
 बयन बानी वर अन्नन।
उक्तिन वयन विनोद,
 मोद श्रोतन मन हर्नन॥

युत अयुत जुक्ति विचार विधि,
 वयन छंद छुट्यो न कह।
घटि बढ़ि मति कोइ पढ़ै,
 तौ चंद दोस दिज्जौ न वह॥

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसं।
षट्भाषापुराणं च कुरानं कथितं मया॥

कवि चंद अपने ग्रंथ की काव्य-संख्या यों बताता है—

सत सहस्र नष सिष सरस,
 सकल आदि मुनि दिष्य।
घट बढ़ मत कोऊ पढ़ौ,
 मोहि दूसन न बसिष्य।

अपने महाकाव्य का सारांश चंद एक स्थान पर प्रकार देता है—

दानव कुल छत्रीय, नाम ढुंढा रष्यस वर।
तिहि सु जोत प्रथिराज, सूर सामंत अस्ति भर॥

दहति पुत्र कवि चंद,
"सूर" "सुंदर" "सुजानं"
"जल्ह" "वल्ह" "बलिभद्र"
कविय "केहरि" बखानं ॥
"वीरचंद" "अवधूत"
दसम नंदन "गुनराजं"
अप्प अप्प क्रम जोग,
बुद्धि भिन भिन करि काजं ॥
जल्हन जिहाज गुनसाज कवि,
चंद छंद सायर तिरन ।
अप्पी सुदिन रासौ सरस,
चल्यौ अप्प रज्जन मरन ॥

यह विदित नहीं है कि किस स्त्री से कौन संतति हुई और 'जल्ह' को छोड़कर अन्य किसी के विषय में भी ज्ञात नहीं। जल्ह' के विषय में तीन सूचनाएँ रासो में मिल हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रैणसी था। र के "दिल्ली-वर्णन-प्रस्ताव" में रैणसी की बालक्रीड़ा का व है। यहीं पर उन सामन्त-पुत्रों के नाम भी दिए हैं जो रा कुमार के संग खेल-कूद में सम्मिलित रहते थे। उस व में जल्ह के विषय में यह लिखा है—

"बरदाइ सुतन जल्हन कुमार ।
सुत धन गैदि बन्दिका सार" ।

(२) दूसरा वर्णन जल्ह के विषय में उस स्थान पर है
हाँ पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई के विवाह की कथा है।
सो के अनुसार पृथाबाई का विवाह चित्तौर के रावल समर-
सिंह के संग हुआ था। कवि वर्णन करता है कि अन्य दासि-
यों के साथ जल्ह भी दहेज में दिया गया था। "पृथा-
विवाह-समय' में यह लिखा है—

"ओपत साह सुजान देश धन्नह संग दिन्नो।
अह ओहित गुरराज ताहि अप्पो नृप किन्नो॥
रिषिकेस दिय ब्रह्म ताहि धनंतर पद सोहै।
चंदसुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहै॥
कवि चंद कहै बरदाय वर
फिर सुराज अप्पा करिय।
कर जोरि कह्यौ पीथल नृपति
दस रावर सद मंदिर फिरिय।"

समरसिंह का रासो में अनेक स्थानों पर वर्णन है।
चंद ने इन्हें अपनी ओर मिलाने का उद्योग किया था,
पर वे सदा पृथ्वीराज का साथ देते रहे और अंत में शहा-
बुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध में मारे गए। उन
की पत्नी पृथाबाई उनके शरीर के साथ सती हुई। सती होने के

पहले उन्होंने अपने पुत्र को एक पत्र लिखा था, जिसमें इसका
दी थी कि श्री हजूर समर में मारे गए और उनके इष्ट
रिषीकेसजी भी वैकुंठ को पधारे हैं। रिषीकेसजी उन चार लोगों
में से हैं जो दिल्ली से मेरे संग दहेज में आए थे, इसलिये इनके
वंशजों की खातिरी रखना। "ने पाछे मारा ज्यारी गरी का
मनपी की पाली राख जो। ई मारा जीव का चाकर है ई
थासु कदी हरामखोर नीवेगा" यह पत्र माघ सुदी १२
अनंद विक्रम संवत् ११५७ (वि० सं० १२४८) का लिखा है।
यह पत्र परवाने के समान माना जाता था, इसलिये जब यह
पुराना हो गया तब संवत् १७५१ में उदयपुर के महाराणा
जयसिंह ने इसे पुनः लिखकर अपनी सही कर दी। नए पत्र
में ऊपर लिखे वाक्यों को उद्धृत करके यह लिखा है—"ओ
लख्या हो जो देखने नकल करा देवाड़ी जा थे अली राज का
ख्यामखोर हो।" अतएव यह स्पष्ट है कि उन्हें दहेज में
चित्तौर को दिया गया था और वहाँ उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई
थी। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्य का 'रावोरा राव'
वंश उन्हीं से ही प्रारंभ होता है

(३) तीसरा उल्लेख उस समय का है जब
अंतिम लड़ाई हो चुकी है और पृथ्वीराज शहाबुद्दीन के हाथ
ला गए हैं। अपने सम्मा ल्या राजा के पकड़े जाने पर
को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने राना के पास जाने
ठानी उसकी स्त्री ने उसे बहुत समझाया, पर यह

जिनैं दारि कमधज्ज साहाब फोर्यौ ।
जिनैं कंगुरा लेय हम्मीर दौर्यौ ॥
जिनैं थेलि कज बालका पेन टार्यौ ।
जिनैं गाहिरा पंग संजोग सार्यौ ॥

भए राट राजा अनेकं सुनाइं ।
किनैं मह कै नच्च मुक्यौ न थानं ।
इनै संभरी राट साहाब हन्यौ ।
उभै दीन जानै पराक्रम्म सन्यौ ।

भयं देव हूरं पुहप्पं बँधाए ।
सुरं जोति जोति सजोती समाए ॥
तिनकौ इच्छा करी चंद भाषा ।
जिनै हंस लै रबीचंद साषा ॥

इस रासो की कथा समाप्त करके उसका माहात्म्य इस
वर्णन करता है—

नवरस विलास रासौ विराज ।
एकेक भाव अनेक काज ।
सो सुनय विविध रासौ विवेक ।
गुन अनंत सिद्धि पावहिं अनेक ॥

सुरत दान दिग्यान मान ।
नाटक गेय विद्या विनान ॥

चातुरी भेद वचनह विलास ।
गति गरम नरम रस हास रास ॥

गति साम दाम भर दंड भेद ।
सब काम धाम निव्वान वेद ॥
वार्चत कवित्त हारंत गोप ।
वर विनय विद्धि युम्भ्भय मदोप ॥

विधि सम्र सार गिन वहन भार ।
गति मान दान निरवान कार ॥
चौ वरन धरम कारन विवेक ।
रस भाव भेय विज्ञान नेक ॥

पौरान सकल कथ अथ्थ माय ।
भारथ्थ अरथ्थरैयम नाय ॥
कवि काव्य रस्स ग्राहा सरंग ।
वधनिय छंद सुभ्भ्भे सुजंग ।

विव्वेक दान विचार सार ।
गति वाम दाम रति रंग भार
नव सपन कला विचार वेद ।
विग्यान वान धीरामि भेद ।

र्स्ति पत्र सरय विग्यान मान ।
रूपमा जव मति धंग यान ।.

रितु रस रसानि वेलाग गत्ति।
मंडन मुमंत स्नामान स्मिति।
भोगवन पह मिति विवार विदि।
भट इष्ट देव उत्पाद निरि।
गंधर्व कला संगीत नार
पिंगलह भेद लघु गुरु प्रचार॥
पिता मात पति परिचरत भेय।
राजंग राज राजंत जेय।
परमब्रह्मध्यान उद्दार मार।
विध भगति विन्व तारन पार।
आधुनह वेद हय गय विनान।
ग्रह गति मति जोतिग्ग धान
कलि नार सार वुझ्झति विचार।
संभरहि भूप रासा सुधार॥
पावहि सु अरथ अरु ध्रम्म काम।
निरमान मोप पावहि सुधाम॥

यह वृत्तांत चंद और उसके पुत्र जल्ह का है वास्तव में ऐसा अपूर्व ग्रंथ हिंदी में दूसरा नहीं है। इस ग्रंथ पर, जैसा कि लिखा जा चुका है, बहुत कुछ आक्षेप हुए हैं। पहले विचारने की बात यह है कि यह ग्रंथ बहुत पुराना है, यहाँ

रासो पर आक्षेप

तक कि इसके पहले का कोई ग्रंथ हिंदी में मिलता ही नहीं दूसरे इसका राजपूताने में बहुत कुछ प्रचार रहा है, यहाँ त कि अनेक राज्यों का इतिहास इसी के आधार पर बना है जिस पर यह काव्य ग्रंथ है। अतएव इसमें अत्युक्ति क होना सम्भव ही नहीं, आवश्यक भी है। इस अवस्थ में जो लोग यह आशा करते हैं कि चंद के ग्रंथ को ह केवल निरे इतिहास-ग्रंथ की दृष्टि से जाँचें, वे भूल करते हैं निस्संदेह इसमें ऐतिहासिक बातें भरी पड़ी हैं पर यह इति हास ग्रंथ नहीं है, यह एक महाकाव्य है। अतएव इस प विचार करते समय दोनों—इतिहास और काव्य—के लक्षणों प ध्यान देकर तब इस पर अपना मत प्रकाशित करना चाहिए इसके अतिरिक्त इसकी आदि प्रति हमें प्राप्त नहीं है, और न उसके प्राप्त होने की आशा ही है। जो प्रतियाँ इस समय उपलब्ध हैं वे न जाने कितनी प्रतिलिपियों के बाद लिखी गई हैं जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस को देखा और उसकी प्राचीन प्रतियों को आधुनिक छपी प्रतियों से मिलाया होगा उन्होंने देखा होगा कि तुलसीदास की असल रामायण में और आजकल की छपी रामायणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। केवल शब्दों ही का परिवर्तन नहीं है, वरन् चाकों की यहाँ तक भरमार हुई है कि सात के स्थान पर आठ कांड हो गए हैं। जब तुलसी-कृत रामायण जैसे सर्वमान्य, सर्व-प्रचलित और सर्व-प्रसिद्ध ग्रंथ

की यह अवस्था हो सकती है तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि चंद के महाकाव्य में भी क्षेपक भर गए हों और वह हमें आज आदि रूप में प्राप्त न हो। आशा है कि समय पाकर और प्रतियों के मिलने पर इसका बहुत कुछ निर्णय हो सके, परंतु जब तक यह न हो तब तक जो प्रतियाँ इस समय प्राप्त हैं उनके आधार पर इसकी जाच पड़ताल करना और इसका रसास्वादन करना कदापि अनुचित नहीं है।

सबसे बड़ा भारी आक्षेप इस ग्रंथ पर यह लगाया जाता है कि इसमें जितने संवत् दिए हैं, वे सब झूठे हैं। पृथ्वीराज का राजत्व-काल तीन मुख्य घटनाओं के लिये प्रसिद्ध है— (१) पृथ्वीराज और जयचंद का युद्ध, (२) कालिंजर के परमर्दिदेव की पराजय, और (३) शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का युद्ध, जिसमें पृथ्वीराज बंदी बने और अंत में मारे गए। इस स्थान पर यह उचित होगा कि पृथ्वीराज, जयचंद, परमर्दिदेव और शहाबुद्दीन का समय ठीक ठीक जान लिया जाय और इस बात का निर्णय दानपत्रों तथा शिलालेखों से हो तो अति उत्तम है; क्योंकि इनसे बढ़कर दूसरा कोई विश्वास-दायक मार्ग इस बात के जानने का नहीं है।

अब तक ऐसे चार दानपत्रों और शिलालेखों का पता लगता है, जिन पर पृथ्वीराज का नाम पाया जाता है। इनका समय विक्रम संवत् १२२४ और १२४४ के बीच का है।

जयचंद के संबंध में १२ दानपत्रों का पता लगा है। इनमें से दो पर, जो विक्रम संवत् १२२४ और १२२५ के हैं, इसे युवराज करके लिखा है। शेष १० पर 'महाराजाधिराज जयचंद' यह नाम लिखा है। इनका समय विक्रम संवत् १२२६ से १२४३ के बीच में है।

कालिंजर में राजा परमर्दिदेव के, जिनको पृथ्वीराज ने पराजित किया था, छः दान-पत्र और शिलालेख वर्त्तमान हैं, जिनका समय विक्रम संवत् १२२३ से १२५८ तक है। इनमें से एक में, जो विक्रम संवत् १२३९ का है, पृथ्वीराज और परमर्दिदेव के युद्ध का वर्णन है।

शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का समय फारसी इतिहासों से सिद्ध है और उसके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। मेजर रेवर्टी 'तबकाते नासरी' के अनुवाद के ४५६ पृष्ठ में लिखते हैं कि ५८७ हिजरी (सन् ११९० ई०) में उन सब ग्रंथकारों के अनुसार, जिनसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ, तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों के अनुसार, जिनमें इस ग्रंथ का कर्त्ता भी सम्मिलित है, राय पिथौरा के साथ शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का पहला युद्ध हुआ और उसका दूसरा युद्ध, जिसमें राय पिथौरा पराजित हुआ और मुसलमान लेखकों के अनुसार मारा गया, निस्संदेह हिजरी सन् ५८८ (११९१ ई० = वि० सं० १२४८) में हुआ

ऊपर जिन संवतों का वर्णन किया गया है वे पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव के दानपत्रों तथा शिलालेखों

से लिए गए हैं और एक दूसरे को शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। निदान, इन सबसे यह सिद्धांत निकलता है कि पृथ्वीराज विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध और ईसवी बारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में वर्तमान था और उसका अंतिम युद्ध वि० संवत् १२४८ (ई० ११९१) में हुआ।

जिन शिलालेखों का ऊपर उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त अर्णोराज और सोमेश्वर के भी शिलालेख और दान-पत्र मिलते हैं जो ऊपर दिए हुए सन्-संवतों की प्रामाणिकता और ऐतिहासिक सत्यता को सिद्ध करते हैं।

अब हम रासो के सन्-संवतों पर विचार करेंगे। चार भिन्न-भिन्न संवतों पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वे अन्य इतिहासों में दिए हुए संवतों से कहाँ तक मिलते हैं। चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ में दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। 'तबक़ाते नासरी' में अंतिम युद्ध का समय, जिसमें पृथ्वीराज पराजित हुआ और बंदी बनाया गया, ५८८ हिजरी (१२४८ वि०) दिया है। अब यदि १२४८ में ११५८ घटा दिया जाय तो ९० बाक़ी बचता है। इसके अतिरिक्त इन चार भिन्न भिन्न अवसरों पर पृथ्वीराज के वय:क्रम का हम ध्यान करें तो यह सिद्ध होता है कि कथित घटनाएँ १२०५, १२१२, १२४१ और १२४८ में हुईं, न कि १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ में,

दोनों में ९०–९१ वर्ष का अंतर था। अब यह बात स्वतः सिद्ध है कि चंद का रासो वास्तविक घटनाओं से पूरित महाकाव्य है, जैसे कि उस काल के ऐतिहासिक काव्य प्रायः सब देशों में मिलते हैं, और अब इसे झूठा सिद्ध करने का उद्योग केवल निरर्थक, निष्प्रयोजन तथा द्वेषपूर्ण माना जायगा। पृथ्वीराज और उसके सामंतों का चरित्र इंग्लैंड के राजा आर्थर (King Arthur and his round table) से बहुत कुछ मिलता है। अस्तु, इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ सहस्रों मनुष्यों के हाथों में गया और सैकड़ों ने इसे लिखा है। इससे यदि आज हमको इसके पाठ में दोष या कहीं कहीं गड़बड़ अथवा क्षेपक मिलें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इससे इस ग्रंथ के गुण और आदर में किसी प्रकार की अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

---

(८) गोस्वामी तुलसीदास

हिंदी-साहित्य का इतिहास चार मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारंभ काल, पूर्व मध्य काल, उत्तर मध्य काल और वर्तमान काल। प्रारंभ काल का आरंभ विक्रम संवत् १०५० के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्ष और संग्राम का था और इसमें वीरगाथाओं तथा वीर गीतों ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरंभ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के अंत में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिंदी-साहित्य के इतिहास का पूर्व मध्य काल आरंभ होता है जो संवत् १३७५ से १६७५ तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गए। परंतु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मांधता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और

आविर्भाव

पर डगमगाते चलने में सहारा देकर सँभाला। कविता की दृष्टि से देखा जाय तो भी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' उपमाओं और रूपकों का मानो भांडार है। चरित्र-चित्रण में भी वह बहुत बढ़ा चढ़ा है। परंतु क्या कारण है कि यह मानस ऐसे आदरणीय और श्लाघनीय आसन पर आसीन हो सका? सूरदास की कविता मधुरता में कम नहीं, केशवदास में पांडित्य की न्यूनता नहीं, बिहारी का अर्थ-गौरव और कहीं मिलता नहीं। फिर क्या कारण है कि तुलसीदास के सम्मुख इन कवियों की उपेक्षा की जाती है? कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदास में अनेक गुणों का समावेश है जो और कवियों में नहीं पाया जाता। इसी से उनकी चाह अधिक है। पर जन-साधारण तो इन गुणों की तुलना कर नहीं सकते। मेरी समझ में तुलसीदास की सर्व-प्रियता और मनोहरता का मुख्य कारण उनका चरित्र-चित्रण और मानवीय मनोविकारों का स्पष्टीकरण है। इन दोनों बातों में वे इस पृथ्वी के जीवधारियों को नहीं भूलते। उनके पात्र स्वर्ग के निवासी नहीं, पृथ्वी से असंपृक्त नहीं। उनके कार्य, उनके चरित्र, उनकी भावनाएँ, उनकी वासनाएँ, उनके विचार, उनके व्यवहार सब मानवीय हैं। वे सामाजिक मर्यादा के अनन्य भक्त और अविचल संरक्षक हैं। यही कारण है कि वे मनुष्यों के मन में घुस जाते, उन्हें प्रिय लगते और उन पर अपना प्रभाव डालते हैं। कभी कभी यह देखा

जाता है कि लेखक या कवि सर्वप्रियता प्राप्त करने के लिये अपने ऊँचे सिद्धांत से गिर जाता है, पाठकों में कुरुचि उत्पन्न करना और उसकी रक्षा करने की चेष्टा करके और भी गड्ढे में ढकेल देता है। पर तुलसीदासजी अपने सिद्धांत पर सदा अटल रहते हैं, वे कहीं धागा ढीला नहीं करते। सदा सुरुचि उत्पन्न करते, सदुपदेश देते और सन्मार्ग पर लगाते हैं। यह कृतकार्यता कम नहीं। इसके लिये कोई भी गौरवान्वित हो सकता है। फिर तुलसीदासजी से महात्मा कवि और देशानुरागी का कहना ही क्या है। परन्तु अब हम तुलसीदासजी की जीवन-संबंधिनी घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

जीवन-सामग्री

भाषा के कवि प्रायः लोभवश अपना और अपने आश्रयदाता का वृत्तांत अपने ग्रंथ में लिखा करते थे, परंतु गोसाईं जी ने मनुष्यों का चरित्र न लिखने का प्रण सा किया था; इसलिये उन्होंने अपना कुछ भी वृत्तांत नहीं लिखा। कहीं कहीं जो अपने चरित्र का आभास मात्र उन्होंने दिया भी है तो वह केवल अपनी दीनता और हीनता दिखलाने के लिये। किसी किसी ग्रंथ-निर्माण का समय भी उन्होंने लिख दिया है। इसलिये उनका चरित्र वर्णन करने के लिये मुख्यतः दूसरे ग्रंथों और किंवदंतियों का आश्रय लेना पड़ता है। सबसे प्रामाणिक वृत्तांत बतलानेवाला ग्रंथ वेणीमाधवदास-कृत गोसाईं-चरित्र है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंहसरोज में किया

है। कवि वेणीमाधवदास पसका ग्राम-निवासी थे और गोसाईंजी के साथ सदा रहते थे। परंतु खेद का विषय है कि वह पूर्ण ग्रंथ नहीं मिलता है, केवल उसके अंतिम अध्याय का पता लगा है जिसमें गोसाईंजी का चरित्र संक्षेप में दिया है।

दूसरा ग्रंथ नाभाजी का "भक्तमाल" है। यह बात प्रसिद्ध है कि नाभाजी से और गोसाईंजी से वृंदावन में भेंट हुई थी। नाभाजी वैरागी थे और तुलसीदासजी स्मार्त वैष्णव, खाने पीने में संयम रखनेवाले, इसलिये पहले दोनों में न बनी; पीछे से तुलसीदास के विनीत स्वभाव को देख नाभाजी बहुत प्रसन्न हुए। अतः उनका लिखना भी बहुत कुछ ठीक हो सकता था, परंतु उन्होंने चरित्र कुछ भी न लिखकर केवल गोसाईंजी की प्रशंसा में एक छप्पय लिख दिया है।

इस छप्पय से गोसाईंजी के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। भक्तमाल में उसके बनने का कोई समय नहीं दिया है; परंतु अनुमान से यह जान पड़ता है कि यह ग्रंथ संवत् १६४२ के पीछे और संवत् १६८० के पहले बना, क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोस्वामी गिरधरजी का वर्णन उसमें वर्तमान क्रिया में किया है। गिरधरजी ने श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती, अपने पिता के परमधाम पधारने पर, संवत् १६४२ में पाई थी। इधर गोसाईं तुलसीदासजी का भी वर्तमान रहना जान पड़ता है, क्योंकि "राम-चरण-रस-मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी" इस पद से गोसाईंजी के जीते रहते

हो भक्तमाल का बनना सिद्ध होता है। फिर यह प्रसिद्ध ही है कि गोसाईंजी का परलोक संवत् १६८० में हुआ। अत-एव भक्तमाल के दिए हुए पद से केवल यह सिद्ध होता है कि भक्तमाल के बनने के समय (संवत् १६४२-१६८०) तुलसी-दासजी वर्तमान थे।

तीसरा ग्रंथ भक्तमाल पर प्रियादासजी की टीका है। प्रियादासजी ने संवत् १७६९ में यह टीका नाभाजी की आज्ञा से बनाई थी, और जो सब चरित्र भक्त-महात्माओं के मुख से सुने थे उन्हें उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। प्रियादासजी ने गोसाईंजी का कुछ चरित्र लिखा है।

प्रियादासजी की टीका के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्त-कल्पद्रुम" और महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने "भक्तमाल" में गोस्वामीजी के चरित्र लिखे हैं। डाक्टर ग्रियर्सन ने गोस्वामीजी के विषय में जो नोट्स इंडियन एंटीक्वेरी में छपवाए हैं उनसे भी अनेक घटनाओं का पता लगता है।

मर्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १६६६ की संख्या में श्रीयुत इंद्र-देवनारायणजी ने 'हिंदी-नवरत्न' पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-संबंध में अनेक बातें ऐसी कही हैं जो अब तक की निर्धारित बातों में बहुत उलट-फेर कर देती हैं। इस लेख में गोस्वामी तुलसीदासजी के एक नवीन "चरित्र" का वृत्तांत लिखा है और उससे उद्धरण भी दिए गए हैं। इस लेख में लिखा है—

"गोस्वामीजी का जीवनचरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम "तुलसीचरित्र" है। यह बड़ा ही वृहद् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा; इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—"चौ०—एक लाख तैंतीस हजारा, नौ सै बासठ छंद उदारा।" यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन-चरित-विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदासजी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह "तुलसीचरित" बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय वृहद् ग्रंथ के 'अवध-खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त होकर निकले तब रास्ते में एक रघुनाथ नामक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा।"

इस वृत्तांत का सारांश यह है कि सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्मस्थान था और वहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये

घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकूट में पहुँचे। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रांत के राजा के यहाँ गए और उन्होंने हनुमानजी की आज्ञा को यथावत्‌ राजा से कहकर राजापुर में निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यंत श्रेष्ठ विद्वान्‌ जानकर अपने साथ नन्दनपुर, अपनी राजधानी, में ले आए और बहुत सम्मान-पूर्वक उन्होंने राजापुर में उन्हें निवास कराया। इनके तिरसठ वर्ष की अवस्था तक कोई सन्तान नहीं हुई; इससे वे बहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गए तो पुनः चित्रकूट में स्वप्न हुआ और वे राजापुर लौट आए। उस समय राजा इनसे मिलने आया। तदनंतर इन्होंने राजापुर में शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित होकर वहाँ रहने की अनिच्छा प्रकट की; परंतु राजा ने इनके मत का अनुयायी होकर बड़े सम्मान-पूर्वक इनको रक्खा और भूमिदान दिया; परंतु इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। इनके शिष्य मारवाड़ी बहुत थे; उन्हीं लोगों के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अंतकाल में काशी जाकर इन्होंने शरीरत्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेशजी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिनको वाक्‌सिद्धि प्राप्त थी। राजा और रानी तथा अन्यान्य राज्यवर्ग इनके शिष्य हुए और

अट्ठत्तरवें वर्ष में रामचरितमानस की रचना आरंभ किय
उनकी अट्ठत्तरवें वर्ष की अवस्था संवत् १६३१ में थी औ
संवत् १६८० में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४
७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ वाँ मा
लिखकर अट्ठत्तर वर्ष की अवस्था गोस्वामीजी की थी उ
मानस आरंभ हुआ और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोग
गोस्वामीजी परमधाम सिधारे" १२६-१२७ वर्ष की आयु हो
कोई असंभव बात नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्म
रघुवरदासजी ने अपने तुलसी-चरित्र में गोस्वामीजी के जन
का कोई संवत् दिया है या नहीं। इस अवस्था में बाबा बेनी
माधवदास के कथन को प्रामाणिक मानकर उनकी दी हुई तिथि
को गोस्वामीजी की निश्चित जन्म तिथि मानना उचित होगा

जन्म-स्थान

इनके जन्म-स्थान के विषय में भी बड़ा मतभेद है। कोई
इनका जन्म तारी में बताता है। कोई हस्तिनापुर, कोई
चित्रकूट के पास हाजीपुर और कोई
बाँदा जिले के राजापुर को इनका
जन्म-स्थान बतलाता है। बहुत से लोग तारी को प्रधानता
देते हैं। परंतु पंडित रामगुलाम के मत से राजापुर ही
इनका जन्म-स्थान है। शिवसिंहसरोज में इसी मत
को माना है, तथा महात्मा रघुवरदासजी के मत से भी
इसी का समर्थन होता है। बाबा बेनीमाधवदास लिखते हैं
कि यमुना के तट पर दुबे पुरवा नामक गाँव का एक [illegible]

वहाँ मद जाति के लोग रहते थे। राजापुर राज्य के राजगुरु भी वहीं रहते थे। वही उस गाँव के मुखिया थे। उनके पुरखा पतेंजा (पत्योंजा) गांव में रहते थे इनके कुल का नाम मुरेरे पड़ गया था। इन्हीं के पुत्र तुलसीदास थे। इसके अतिरिक्त राजापुर में गोस्वामीजी की कुटी, मंदिर आदि हैं। अतएव इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर में हुआ।

कोई इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कोई सरयूपारी कहता है। राजा प्रतापसिंह ने भक्तकल्पद्रुम में इन्हें कान्यकुब्ज लिखा है, पर शिवसिंहसरोज में इन्हें सरयूपारी माना है। डाक्टर ग्रिअर्सन, पंडित रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर, इन्हें पराशर गोत्र के सरयूपारी दूबे लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दुबे पतिऔजा के" ऐसा प्रसिद्ध भी है विनयपत्रिका में तुलसीदासजी स्वयं लिखते हैं—"दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।" पर यहाँ "सुकुल" से उत्तम कुल का अर्थ ही लगाना युक्ति-संगत जान पड़ता है।

बाबा बेनीमाधवदास ने स्पष्ट लिखा है कि वे पराशरगोत्रो-त्पन्न सरयूपारीण ब्राह्मण थे।

गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से कहीं अपने ग्रंथों में अपने माता-पिता का नाम नहीं लिखा है। लोक में यह बात प्रसिद्ध

माता-पिता

है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे था और माता का हुलसी। नीचे लिखा दोहा इसके प्रमाण में उद्धृत किया जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

इस दोहे को अब्दुर्रहीम खानखाना का बनाया कहा जाता है। लोगों का कथन है कि इसमें "हुलसी" शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिसका यह प्रमाण है कि इनकी माता का नाम हुलसी था। यह कथन केवल अनुमान है। इसकी पुष्टि और कहीं से नहीं होती। "तुलसीचरित्र" में लिखा है कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि मेरे प्रपितामह परशुराम मिश्र थे, जिनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। इनके दो पुत्र संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र हुए। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए जिनमें प्रथम बड़े मुरारि मिश्र थे। इन मुरारि मिश्र के चार पुत्र और दो कन्याएँ हुईं। पुत्रों के नाम गणपति, महेश, तुलाराम और मंगल और कन्याओं के वाणी और विद्या थे। ये तुलाराम हमारे चरित्रनायक गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। बाबा बेनीमाधवदास ने इनकी माता का नाम तो हुलसी लिखा है पर पिता का नाम नहीं दिया है।

विनयपत्रिका में तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं— राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम [illegible] इससे इनका एक नाम रामबोला होना भी [illegible] है। [illegible] तुलसीचरित्र में लिखा है कि इनके गुरु नरहरिदास थे जिन्होंने इनका नाम तुलसी रखा। पहले इनका नाम तुलाराम था, पर [illegible] [illegible] [illegible] के लिए [illegible] की [illegible] के [illegible] को [illegible] [illegible]

बाबा बेनीमाधवदास लिखते हैं कि बारह साल के उपरान्त हुलसी के गर्भ से विचित्र ही बालक उत्पन्न हुआ। आकार में वह पाँच वर्ष के बालक के समान था। उसके दाँत निकल आये थे। जन्मते ही बालक रोया नहीं, केवल "राम" शब्द उसके मुँह से स्पष्ट निकला। इसी कारण उनका नाम "रामबोला" पड़ा। पीछे से इनका नाम तुलसीदास पड़ा।

कवितावली में तुलसीदासजी स्वयं लिखते हैं—'मातु-पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।' विनय-पत्रिका में भी तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—'जनक-जननि तज्यो जनमि करम बिनु विधि सिरज्यो अवडेरे।' पुनः उसी ग्रंथ में वे लिखते हैं—'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिता हूँ।' कुछ लोग अनुमान करते हैं कि तुलसीदास के माता-पिता के संबंध में भी कोई ऐसी ही घटना घटित हुई होगी जैसी कबीरदासजी के संबंध में प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में ऐसी घटनाओं का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर केवल तुलसीदास के वाक्यों को खींचतान कर ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। पंडित सुधाकर द्विवेदी के आधार पर डाक्टर ग्रियर्सन अनुमान करते हैं कि अभुक्त मूल में जन्म होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। मूल में जन्मे लड़कों की मूल-शांति और गोमुख-प्रसव-शांति भी शास्त्र के लेखानुसार होती है; कोई लड़के अनाथ की तरह छोड़ नहीं दिए जाते। इसलिये यह भी अनुमान किया जाता है कि या तो माता-पिता

ने इन्हें कबीरजी की तरह फेंक दिया हो, या इनके जन्म के पीछे ही उनकी मृत्यु हो गई हो। परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि इनके जन्म लेते ही यदि माता-पिता मर जाते या उन्होंने इन्हें फेंक दिया होता तो तुलसीदासजी के कुल, वंश आदि का पता लगाना कठिन होता। तुलसीचरित से यह स्पष्ट है कि तीसरे विवाह तक तुलसीदासजी अपने माता-पिता के साथ थे। तीसरा विवाह होने पर वे उनसे अलग हुए। दोनों बातें, अर्थात् तुलसीदासजी का स्वयं कथन और तुलसीचरित का विवरण, एक दूसरे के विपरीत पड़ती हैं और माता पिता के छोड़ने की घटना को स्पष्ट नहीं करतीं। तुलसीदासजी के स्वयं कथन के अनुसार जन्म देकर माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया था और तुलसीचरित के अनुसार तीसरा ब्याह होने पर माता-पिता से वे विमुख हुए। दोनों कथनों में समानता इतनी ही है कि वे माता-पिता से अलग हुए, पर कब हुए? इसमें दोनों कथनों में आकाश पाताल का अंतर है। बाबा बेनीमाधवदास ने इस घटना का जो वर्णन किया है उससे सब प्रकार का संदेह दूर हो जाता है और तुलसीदासजी ने अपने विषय में जो कहीं कहीं कुछ लिख दिया है उससे उसका सामंजस्य ठीक बैठ जाता है। उनका कहना है कि जब तुलसीदासजी के पिता को यह समाचार मिला कि नव-जात बालक के सब दाँत निकले हुए हैं और वह जनमते रोया नहीं, तब वे बहुत घबड़ाए। तुरंत पंडितों से पूछने

विचार कराया और बंधु बांधवों से सलाह ली। अंत में यह निर्णय हुआ कि यदि शिशु तीन दिन तक जीता रहे तो लौकिक और वैदिक संस्कार किये जायँ। परंतु एकादशी लगना ही चाहती थी कि माता हुलसी के प्राण अकुला उठे, उसे अपना अंत समय समीप सूझने लगा। उसे विश्वास हो गया कि मेरे मरने पर बालक भी मर जायगा। उसने अपनी दासी मुनिया को अपने सब आभरण देकर कहा कि इस बालक को लेकर अपनी ससुराल चली जा और वहीं इसका पालन पोषण कीजिओ। मुनिया ने इस बात को मान लिया। वह बालक को लेकर चली गई और अपने ससुराल में रहकर उसका पालन पोषण करती रही। पर पाँच वर्ष और पाँच मास बीतने पर मुनिया को साँप ने डस लिया और वह परम धाम को सिधारी। अब राजापुर में राज-गुरु के पास सँदेसा भेजा गया। उन्होंने उत्तर दिया कि इस अभागे बालक को लेकर हम क्या करेंगे जो अपने पालनकर्त्ता का ही नाश कर डालता है। निदान बालक ज्यों त्यों कर अपना पेट भर लेता। अंत में नरहरिदास ने संवत् १५६१ में इनका उद्धार किया और उसे शिक्षा दीक्षा देकर सुयोग्य बनाया।

तुलसीदासजी रामायण में लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषा बंध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

थे। तुलसीदासजी की तीव्र बुद्धि पर वे रीझ गए। उन्होंने उन्हें चारों वेद, छहों दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य पढ़ाने के उद्देश्य से स्वामी नरहरिदास से मांग लिया। पंद्रह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर तुलसीदासजी शेष सनातन के पास विद्या पढ़ते रहे। गुरुजी के परम पद प्राप्त होने पर उनकी अंत्येष्टि क्रिया कर वे राजापुर गए। वहां उन्होंने अपने घर को भग्नावशेष और निर्जन पाया। एक भाट से उन्हें पता चला कि उनके वंश में अब कोई नहीं बचा है। गोस्वामीजी ने अपना मकान बनवाकर वहीं रहने का विचार किया।

यमुना के दूसरे किनारे पर तारपिता नाम का एक गांव है। वहां के रहनेवाले भारद्वाज गोत्रीय एक ब्राह्मण सकुटुंब यमद्वितीया का स्नान करने राजापुर आए। उन्हें भी तुलसीदासजी ने रामकथा सुनाई। उन्होंने अपनी कन्या का विवाह तुलसीदासजी से करने की बात उठाई। पहले तो इन्होंने न माना, पर पीछे से बहुत दबाव देने पर इन्होंने स्वीकार कर लिया। संवत् १५८३ ज्येष्ठ सुदी १३ को विवाह हो गया। यह कन्या अत्यंत रूपवती थी। कहते हैं कि गोस्वामीजी इन की पर बहुत आसक्त हो गए। एक दिन वह बिना कहे नैहर चली गई। गोसाईंजी से पत्नीवियोग न सहा गया, वहाँ जाकर वे स्त्री से मिले। स्त्री ने लज्जाकर ये दोहे कहे—

"लाज न लागत आपु को, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति।"

यह बात गोसाईंजी को ऐसी लगी कि वे वहाँ से सीधे काशी चले आए और विरक्त हो गए। स्त्री ने बहुत कुछ विनती की और भोजन करने को कहा, परंतु उन्होंने एक न सुनी।

कहते हैं कि बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्रकूट से लौटते समय अनजाने अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बुड्ढी हो गई थी। वह बिना पहचाने हुए ही उनके आतिथ्य-सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बात होने पर उसने पहचाना कि ये तो मेरे पति हैं। उसने इस बात को गुप्त रक्खा और उनका चरण धोना चाहा, पर उन्होंने धोने न दिया। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ला देने को कहा, परंतु गोसाईंजी ने कहा कि यह सब मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहूँ और श्रीरामचंद्रजी और अपने पति की सेवा करके जन्म सुधारूँ। रात भर बहुत कुछ आगा पीछा सोच विचारकर उसने सबेरे अपने को गोसाईंजी के सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनाई। गोसाईंजी ने उसका साथ अंगीकार न किया तब उसने कहा—

ओर चले गए और संवत् १६४० तक उधर ही घूमते रहे। संवत् १६४० में काशी लौट आए। यहाँ कुछ दिन ठहरकर पुनः अयोध्या, शूकरखेत, लखनऊ, मलिहाबाद, बिठूर, संडीले आदि स्थानों में होते हुए नैमिषारण्य में पहुँचे, वहाँ तीर्थों का उद्धार कर संवत् १६४९ में वृंदावन चले गए। वहाँ से अनेक स्थानों में घूमते हुए वे पुनः काशी चले आए और अंतकाल तक काशी ही में रहे।

यद्यपि पहले गोसाईंजी अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्रकूट में भी प्रायः रहते थे, परंतु अधिक निवास उनका काशी में होता था; और अंत में इन्हें काशीवास हुआ। काशी में चार स्थान गोसाईंजी के प्रसिद्ध हैं—

वासस्थान

१—अस्सी पर—तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोसाईंजी के स्थापित हनुमान्‌जी हैं और उनके मंदिर के बाहर वीसा यंत्र लिखा है जो पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है। यहाँ पर विशेष करके गोसाईंजी रहते थे, और अंत समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमंदिर में—यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, यह तुलसीदासजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। यह सदा बंद रहती है, झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं, केवल श्रावण सुदी ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर

गोसाईं जी के मित्रों और स्नेहियों में अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती, नाभाजी आदि के नाम बताए जाते हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि मीराबाई से इनका पत्र-व्यवहार हुआ था पर इनके समय में और मीराबाई के समय में इतना अंतर है कि यह बात सत्य नहीं मानी जा सकती। मधुसूदन सरस्वती ने, जो शैव थे, ग्रंथ से प्रसन्न होकर इनकी प्रशंसा में यह श्लोक बनाया था

मित्र और स्नेही

आनंदकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरु
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता

ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी के अनन्य मित्रों में टोडर नाम के एक जमींदार थे जो काशी में रहते थे। इनकी मृत्यु पर गोसाईंजी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भार
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार।
तुलसी उर थाला बिमल टोडर गुनगन बाग
ये दोउ नैनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग।
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच।

फैली और सन् १६१८ (संवत् १६७५) से ८ वर्ष तक आगरे में इसका प्रकोप रहा। तुजुक-जहाँगीरी में इसकी भीषणता का पूरा वर्णन है। आगरे में इससे १०० मनुष्य नित्य मरते थे। लोग घर द्वार छोड़कर भाग गए थे। मुर्दों को उठानेवाला कोई नहीं था। कोई किसी के पास नहीं जाता था।

हनुमानबाहुक के ८८ वें कवित्त में तुलसीदासजी ने लिखा है—"बीती विश्वनाथ की विषाद बड़ो वाराणसी बूझिए न ऐसी गति शंकर-सहर की।" इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय रुद्रबीसी थी। ज्योतिष की गणना के अनुसार यह समय संवत् १६६५ से १६८५ तक का है।

कवित्त ८४ में तुलसीदासजी काशी में महामारी होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"शंकर-सहर सर नर-नारि बारि-चर विकल सकल महामारी मांजा भई है उछरत, उत-रात, हहरात, मरि जात, भभरि भगात जल थल मीचु-मई है। देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित, वाराणसी बाढ़ति अनीति नित नई है। पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत, राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है।"

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६६५ और १६८५ के बीच में काशी में महामारी का उपद्रव हुआ था। यह समय पंजाब और आगरे में इसके प्रकोप-काल से, जो ऊपर लिखा है, मिलता है।

कवित्त ५ में तुलसीदासजी लिखते हैं—

एक तौ कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥
दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दयाधाम
रावरीऐ गति बल-बिभव-बिहीन की
लागैगी पै लाज विराजमान विरुदहि
महाराज आजु जौं न देत दादि दीन की।

इससे यह प्रकट है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय मीन के शनैश्चर थे। गणना के अनुसार मीन के शनैश्चर संवत् १६६९ से १६७१ तक हुए थे। अतएव यह संभव जान पड़ता है कि काशी में महामारी का प्रकोप उसके आगरे में फैलने के ४-५ वर्ष पहले हुआ था। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में काशी में प्लेग फैला हुआ था।

हनुमानबाहुक के कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं जिससे यह विदित होगा कि तुलसीदास जी को महामारी रोग हो गया था।

'साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जी के, बाँहपीर महाबीर बेगही निवारिए'। २२। 'बात तरुमूल, बाहुसूल, कपिकच्छु बेलि उपजी, सकेलि, कपि केलि ही उखारिए' ३१। 'आन हनुमान की, दोहाई बलवान की, सपथ महाबीर की जो रहै

पीर बाँह को' ॥ २७ ॥ 'आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें बढ़ी है बाहु बेदन कही न सहि जाति है' ॥ ३१ ॥ 'पाँय-पीर पेट-पीर बाहु-पीर मुँह-पीर जरजर सकल सरीर पीरमई है' ॥ ३८ ॥ 'भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को' ॥ ४२ ॥

अंतिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों, सुजान रामराय सों,

कृपानिधान शंकर सों, सावधान सुनिये

हरष बिषाद राग रोष-गुन-दोषमई,

बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिये।

माया जीव काल के, करम के, सुभाउ के,

करैया राम, बेद कहैं, साँची मन गुनिये !

तुम तें कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहि,

हौंहू रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये ॥४३॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी की बाँह में पीड़ा प्रारंभ हुई, फिर कोख में गिलटी हुई धीरे धीरे पीड़ा बढ़ती गई, ज्वर भी आने लगा, सारा शरीर पीड़ामय हो गया। अनेक उपाय किए; जंत्र, मंत्र, टोटका, औषधि, पूजापाठ सब कुछ किया पर किसी से कुछ लाभ न हुआ। बीमारी बढ़ती ही गई। सब तरह की प्रार्थना कर जब वे थक गए तब अंत में यही कहकर संतोष करते हैं कि जो बोया है सो काटते हैं। कवित्त ४३ बीमारी के बहुत बढ़ जाने और जीवन से निराश होने पर कहा

गया था। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनंतर तुलसीदासजी गंगातट पर आ पड़े। वहाँ पर क्षेमकरी का दर्शन करके उन्होंने हनुमान्बाहुक का यह अंतिम छंद कहा था—

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सों चंदन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥
गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सपेम पयान समै सब सोच-बिमोचन छेमकरी है॥

इस छंद में "पेखु सपेम पयान समै" से स्पष्ट है कि यह छंद मरने के कुछ ही पूर्व कहा गया था।

कहते हैं कि तुलसीदासजी का अंतिम दोहा यह है—

रामनाम जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सोन॥

इन सब बातों पर ध्यान देकर कुछ लोगों ने यह सिद्धांत निकाला है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु काशी में प्लेग के कारण हुई।

पर हनुमानबाहुक का ३६ वाँ कवित्त यह है—

घेरि लिया रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यौं
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है
बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस
रोष बिनु दोष धूम-मूल मलिनाई है
करुनानिधान हनुमान महाबलवान
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है

ल्यायो हुतो तुलसी कुरोग रौंट राकसनि
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है ॥

इनसे स्पष्ट है कि यद्यपि गोस्वामीजी को प्लेग हो गया था और उन्होंने उनके कारण बहुत कष्ट भी पाया था पर इस रोग से वे मुक्त हो गए थे। बाबा बेनीमाधवदास भी यही लिखते हैं।

गोस्वामीजी की मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सै असी, असीगंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

पर बाबा बेनीमाधवदास इस घटना का संवत् इस प्रकार देते हैं—

संवत सोरह सै असी, असीगंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

यही तिथि उनके परलोकवास की ठीक जान पड़ती है, टोडर के वंश में अब तक श्रावण कृष्णा तीज को ही गोस्वामीजी के नाम पर एक सीधा दिया जाता है।

ग्रंथ

गोस्वामीजी के बनाए १४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—१—गीतावली, २—कृष्णगीतावली, ३—कवित्तरामायण, ४—रामचरितमानस या रामायण, ५—विनयपत्रिका, ६—दोहावली, ७—सतसई, ८—रामलला नहछू, ९—जानकी मंगल, १०—पार्वती मंगल, ११—बरवै रामायण, १२—हनुमानबाहुक, १३—वैराग्यसंदीपनी, १४—रामाज्ञा।

(१) गीतावली—यह ब्रजभाषा में राग-रागिनियों में रची गई है। इसमें रामचरित का क्रमबद्ध वर्णन है। इसकी रचना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्यप्रधान गीत-शैली पर हुई है और उन्हीं के समान यह सरल और मनोहर है तथा भाषा की स्वाभाविक स्वच्छता विशेष रूप से देख पड़ती है। इसमें कोमल और करुण वृत्तियों की व्यंजना अत्यंत हृदय-ग्राहिणी है। बाललीला और राज्यश्री का वर्णन बड़ा मनोहर है। इस ग्रंथ की रचना संवत् १६२८ में हुई।

(२) कृष्णगीतावली—इसमें कृष्णचरित पर ६१ पद हैं। जैसे सूरदास ने रामचरित का वर्णन किया है वैसे ही तुलसी-दास ने कृष्णचरित का भी वर्णन किया है परंतु दोनों को अपनी अपनी कृतियों में यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त हुई। इसकी रचना संवत् १६२८ में हुई।

(३) कवित्तरामायण—इस ग्रंथ में रामायण की कथा कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और छप्पय छंदों में कही गई है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें दिए हुए वर्णन बड़े ही ओजस्वी हैं। लंकादहन का वर्णन तो बड़ा ही अद्भुत हुआ है। इसका निर्माण १६२८ और १६३१ के बीच में हुआ।

(४) रामचरितमानस—इस ग्रंथ का आरंभ संवत् १६३१ में हुआ था। यह ग्रंथ हिंदी कविता का मुकुट है। एक तो प्रबंधकाव्य के लिखनेवाले हिंदी में यों ही इने गिने कवि हुए हैं, पर उनमें भी कोई तुलसीदासजी के रामचरितमानस को

नहीं पा सका है। भाषा इनकी सीधी सादी है, कविता का प्रवाह एक शांत गंभीर नदी के समान चला जाता है, कहीं उच्छृंखलता या मोड़ मुड़ाव नहीं पड़ता, चरित्रों का चित्रण ऐसा मनोहर हुआ है कि वे सजीव, चलते फिरते और स्पष्ट मर्त्यलोक के जान पड़ते हैं। यद्यपि सब चरित्र आदर्श रूप उपस्थित किए गए हैं पर कहीं भी हमको ऐसी कोई बात नहीं मिलती कि जिनके संबंध में हम यह कह सकें कि यह कृत्य मनुष्य की शक्ति के बाहर है। लोक-मर्यादा की स्थापना करने में इस ग्रंथ ने बड़ा काम किया है; सच बात तो यह है कि यह ग्रंथ हिंदुओं की अतुल संपत्ति का भांडार है और इसके कारण जगत् के साहित्य में हिंदी का सिर ऊँचा होता है।

(५) विनयपत्रिका—इसमें राग-रागिनियों में विनय के पदों का संग्रह है। सज्जनों का यह कहना है कि इस ग्रंथ की रचना में गोसाईंजी ने अपनी कवित्वशक्ति की पराकाष्ठा कर दिखाई है। इसका अपरिमित पांडित्य, शब्द-भंडार, वाक्य-विन्यासपटुता, अर्थगौरव, उक्तिवैचित्र्य, इसमें पद पद पर झलकता है। यह ग्रंथ संवत् १६३५ के लगभग बना।

(६) दोहावली—इसमें ५७३ दोहों का संग्रह है जो भिन्न भिन्न विषयों पर कहे गए हैं। इसमें बहुत से दोहे ऐसे हैं जिनका आशय समझने में कठिनता होती है। वे गोसाईंजी की प्रौढ़ता के प्रमाण हैं।

(७) सतसई—इसकी रचना संवत् १६४२ में हुई। उसमें स्वामीजी के चुने हुए दोहों का संग्रह है।

(८) रामलला नहछू—यह पूरबी अवधी में लिखा हुआ बीस तुकों के सोहर छंद में बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें यज्ञोपवीत के समय चारों भाइयों के नहछू का वर्णन है। यह संवत् १६४३ में बना।

(९) जानकी मंगल—इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन है। इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि वह शुद्ध पूरबी अवधी में लिखा गया है। सोहर से छोटे छंद में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि न तो शैथिल्य का कहीं नाम है और न कहीं एक शब्द का व्यर्थ प्रयोग किया गया है। यह ग्रंथ भी संवत् १६४३ में बना।

(१०) पार्वती मंगल—इसमें जानकी मंगल के ढंग पर शिव-पार्वती का विवाह सोहर छंद में कहा गया है। यह ग्रंथ संवत् १६४३ में बना था।

(११) बरवै रामायण—ऐसा जान पड़ता है कि यह ग्रंथ रूप में नहीं रचा गया। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवै बनाए गए थे जो पीछे से ग्रंथ रूप में क्रमबद्ध किए गए और समस्त पुस्तक सात कांडों में विभक्त की गई। इसकी अवधी बड़ी ही मधुर और सुंदर है। इसका निर्माण संवत् १६२९ के लगभग हुआ।

(१२) हनुमानबाहुक—यह संवत् १६६९ और १६७१ के बीच में बना। इस ग्रंथ से तत्कालीन देशदशा तथा गोस्वामीजी के जीवन से संबंध रखनेवाली अनेक बातों का पता लगता है।

(१३) वैराग्यसंदीपनी—यह ग्रंथ दोहा चौपाई में संत महात्माओं के लक्षण, प्रशंसा और वैराग्य के उत्कर्ष-वर्णन में लिखा गया है। इसमें गोसाईंजी के विरक्त भावों का दिग्दर्शन होता है। इसका निर्माण संवत् १६७२ में हुआ।

(१४) रामाज्ञा—शकुन विचारने के लिये इसे गोसाईंजी ने अपने मित्र ज्योतिषी गंगाराम के लिये संवत् १६७२ में लिखा था।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर इस भाषा के साहित्य को तो गौरवान्वित करके अमर किया ही परंतु साथ ही उन्होंने मत-मतांतर के झगड़ों को दूर कर समाज को एकता के सूत्र में पिरो दिया; यवनप्रेरित कठिन निराकार एकेश्वरवाद तथा आशिकी उपासना के ढंग के स्थान पर राम-रूपी सगुण, साकार ईश्वर को उपस्थित करके उन्होंने निर्मल प्रेम की छटा दिखलाई; केवल सद्गुरु के प्रसाद मात्र से सिद्ध हो जानेवाले ढोंगियों की पोल खोल दी और परकीया गोपियों तथा अनेक-स्त्री-भोगी कृष्ण के स्थान में आदर्श सती सीता और एकपत्नीव्रत राम का चरित्र चित्रण करके संसार को कल्याण का मार्ग दिखला दिया; इन्हीं चरित्रों के सहारे उन्होंने समाज से व्यक्तिगत उच्छृंखलता को दूर करने के लिये लोक-

गोस्वामीजी का महत्त्व

मर्यादा का सच्चा स्वरूप उपस्थित कर दिया; और निराश हिंदू-हृदय में दुष्टदलन अवतारी भगवान् की आशा दिला दी। अपने इष्टदेव रामचंद्रजी में उन्होंने शील और शक्ति का ऐसा सुंदर सम्मिश्रण किया है कि पढ़नेवाले या सुननेवाले के मन में उनके प्रति सहज ही भक्ति का स्रोत उमड़ने लगता है।

काव्य की दृष्टि से भी रामचरितमानस आदर्श है। प्रत्येक अलंकार के इसमें कई उत्तम उदाहरण हैं। अलंकार लाने ही के लिये अलंकारों का निरर्थक प्रयोग न करके गोस्वामीजी ने भाव को प्रदीप्त करने ही के लिये उनका उपयोग किया है। उनकी भावुकता भी हृदय-ग्राही है। रामवनगमन, चित्रकूट में राम-भरत-मिलाप, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मणशक्ति पर राम-विलाप, भरत-प्रतीक्षा इत्यादि पढ़कर हृदय मुग्ध हो जाता है।

रसों से मानस परिपूर्ण है। करुण रस में विशेष राम-वनगमन तथा भरत की आत्मग्लानि, रौद्र में उनका माता पर क्रोध, हास्य में नारद-मोह तथा लंका दहन के पूर्व हनुमानजी की [illegible] लपेटने समय राक्षस बालकों का ताली बजाना, भयानक और वीभत्स में लंकादहन, वीर में लंकाकांड, अद्भुत में हनुमानजी का पहाड़ लिए उड़ते जाना, उदासीन [illegible] स्थान पर सीताजी का लक्ष्मण को समझाना तथा मंथरा का प्रसिद्ध वाक्य "कोउ नृप होउ हमहि का हानी," युद्धकाण्ड में रावण का कहना कि क्या राम ने वननिधि, नीरनिधि, जलनिधि इत्यादि बाँध लिया, और स्वयं अपने

आदर्श हैं कि जिनका अनुकरण कर हम आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी भाषा-भाषियों का जो उपकार किया है उससे वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास इस पवित्र भूमि में जन्म लेकर रामचरितमानस सा अमूल्य-संपत्ति-भांडार हमें न दे गए होते तो आज उत्तर भारत की क्या दशा हुई होती, इस बात का थोड़ा सा ध्यान कर लेने ही से उनके महत्त्व का ध्यान हो जायगा।

आदर्श हैं कि जिनका अनुकरण कर हम आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी भाषा-भाषियों का जो उपकार किया है उससे वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास इस पवित्र भूमि में जन्म लेकर रामचरितमानस सा अमूल्य-संपत्ति-भांडार हमें न दे गए होते तो आज उत्तर भारत की क्या दशा हुई होती, इस बात का थोड़ा सा ध्यान कर लेने ही से उनके महत्त्व का ध्यान हो जायगा।